आत्म-जागृति

स्व० मातेश्वरी हीरादेवी के स्मरणार्थ सादर भेंट

आत्महित के लिये पठन मनन रूप सदुपयोग प्रार्थनीय

[माघ सुदी ४ वीर सं० २४८३, सन् १९५७]

प्रकाशक —

केशरीचन्द धूपिया

४२, बद्रीदास टैम्पल स्ट्रीट,

कलकत्ता ४ (इण्डिया)

सुराना प्रिंटिंग वर्क्स, कलकत्ता ७

उद्बोधन

एक सत्पथ यात्री, अन्य सोये हुए सहयात्रियों को जगाकर अपने निजपथ पर चलने के लिये प्रेरित करना चाहता है—

हे जीव। अनादिकाल से तू मोहरूपी नींदमें, प्रमादरूपी नशे में बेमान होकर सो रहा है। बहुत सोया, अब तो जाग, सचेत होकर सद्गुरु-द्वारा अपने स्वरूप का भानकर। सवेरा हुआ, सम्यग् ज्ञानी रूप सूर्य उदय हुआ, यदि अब भी सोता रहेगा, तो कब जागेगा? इस नींद में, इसके विष तुल्य मिठास के नशे में तू बेभान सो रहा है। यदि अब भी तू न जागेगा तो यह दुर्लभ-सुयोग तथा मनुष्य देह रूपी नाव हाथ से निकल जायेगी। दिल, दिमाग रूपी ताकत—विचार शक्ति व्यर्थ में नष्ट हो जायेगी, कुछ हाथ न लगेगा। फिर पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत। अब भी समय है, मौका है। जाग, जाग! सचेत हो, सचेत हो! विचार कर, ध्यान से विचार कर!

"जहाँ चाह वहाँ राह।"

—केशरी

नम्र निवेदन

भव्य आत्मन्

हम आप, पशु पक्षी, पृथ्वी जल, अग्नि वायु वनस्पतिया सब बहते हुए 'चेतन शक्ति रूप' कण—जीव हैं। अनादि काल व्यतीत हुआ, यह धारा प्रवाह—जन्म मरण रूप भटकना जारी है, तथा अनत भविष्य जो सामने है, उसमे जीवका यह दुःख दायी भ्रमण जारी रहेगा। यदि मनुष्य जीवन पाकर भी अपने स्वरूप को भूले रहेंगे, तथा रूपी पदार्थों में ममत्व करते रहने के कारण इनके अनुकूल सयोग मे सुख एव प्रतिकूल सयोग मे दुःख मानते रहेंगे तो अपना यहदुःखदाई ससार भ्रमण न रुक सकेगा। जैसे एक कण की तरह बहते आये, हैं वैसे ही अनत काल तक इस धाराप्रवाह में बहते रहेंगे।

'बीती ताहे बिसार दे आगे की सुध ले'

इस दुर्लभ मनुष्य जीवन मे दिल वा दिमाग रूप 'मशीन' से विश्वास तथा विचार करने की शक्ति अपने को मिली है। इस अमूल्य साधन शक्ति को नाशवान शरीरादि के सुख दुःख मे इष्टानिष्ट भाव रखकर दुरुपयोग होने से बचाना चाहिये, तथा अपने चेतन स्वरूप दर्शन ज्ञान साक्षी स्वभाव को समझने एव विश्वास करने मे अपने इस शक्ति का सदुपयोग करने का हमेशा प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार अपने अनादि मोह रूपी नशा को कम कर अपने आत्म दर्शन में बाधक शक्ति को क्रमश नष्ट करके बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन कर क्रमश परमात्मा बना जा सकता है।

इस वस्तुस्थिति पर अपना विश्वास दृढ करने के लिये ऐसे भगवान महावीरादि महापुरुषों के उदाहरण की आवश्यकता होती है, जिन्होंने अपने अनुपम आत्मिक विश्वास को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत किया है। ऐसे महान ज्ञानी पुरुषों का राग द्वेषादि समूल नष्ट हो जाने से उनका प्रवचन सत्य (स्याद्वाद) सप्रमाण तथा परमार्थमय होता है।

प्रत्येक वस्तु का स्याद्वाद रूप से प्ररुपण ही प्रमाणिक सत्य है, एकान्तवाद से यथार्थ नहीं। जैसे, कोई जन्मान्ध व्यक्ति हाथी के सूंड मात्र का स्पर्श कर वह सूंड को ही पूरा हाथी मान लेता है, वैसे ही आत्मा के एक अंश धर्म को जान कर उस धममात्र को पूर्ण आत्म स्वरूप मानते हुए आग्रह करना तथा आत्मा में रहे हुए अन्य धर्मों का विरोध करना एकान्तवाद है जैसे, आत्मा की सत्ता स्वरूप मात्र को पूर्ण ब्रह्म मान लेने मात्र से आत्म सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

वैसे ही आत्मा के पर्याय-उत्पत्ति, विनाश रूप परिवर्तन मात्र को पूर्ण आत्म स्वरूप मानकर आग्रह करना तथा आत्म सत्ता को न मानना ही क्षणिकवाद है। वैसे ही आत्मा के किसी एक धर्म या अंश को पूर्ण आत्म स्वरूप मान कर दुराग्रह करनेवाले अन्यमत एकान्तवादी है। वस्तु के एक धर्म को अपेक्षित सत्य मानने में हर्ज नहीं, किन्तु उसका दुराग्रह कर उसके अन्य धर्मों का खंडन करना ही मिथ्या दर्शन है। अज्ञानता वश जीव ऐसी भूल करता है, फलतः वह अपने पूर्ण स्वरूप को जानने से वंचित रहता है।

प्रत्येक वस्तु—द्रव्य अनेक धर्मात्मक है। जिस वस्तु का जो जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। प्रत्येक द्रव्य गुण पर्यायों सहित है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है। द्रव्य गुण सत्ता रूपसे अविनाशी तथा पर्याय रूपसे विनाशी—परिवर्त्तनशील है।

प्रमाणिक स्याद्वाद युक्ति से वस्तु के पूर्ण स्वरूप का क्रमश वर्णन किया जा सकता है, उसके आधार पर विचार करने से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझा जा सकता है।

अत अपने अनादि मिथ्या-दृष्टिपन को त्यागकर सम्यग् दृष्टि बनने के लिये पहले मार्गानुसारीपन—नैतिकता (साधारण धर्म) के गुण जिससे मनुष्य मे पात्रता—योग्यता आती है, उसे जानना चाहिये। इस विषय को समझने के लिये निम्न चार दृष्टियों को समझना आवश्यक है। जैसे अनैतिक दृष्टि (अशुभ मिथ्या दृष्टि), नैतिक दृष्टि (शुभ मिथ्या दृष्टि), धर्म दृष्टि (शुभतर व्यवहार सम्यग् दृष्टि), तथा आत्म दृष्टि (शुद्ध सम्यग् दृष्टि)।

(१) अनैतिक दृष्टि—मनुष्य के लिये विषयुक्त भोजन की तरह है, जैसे हिंसावृत्ति, अत्याचार, बेइमानी, विश्वासघात, चोरी, डाका व्यभिचारादि। अत मनुष्य को इन बुरी आदतों को छोडना चाहिये, क्योंकि इन कार्यों से उसका कोई विश्वास नहीं करता, तथा राज से भी दंडित होता है। अत वह जन्म-भर दु खी रहता है, तथा मृत्यु के बाद नरकादि दुर्गति मे अत्यन्त दु ख पाता है।

(२) नैतिक दृष्टि – मनुष्य के लिये समान्य भोजन की तरह

इस वस्तुस्थिति पर अपना विश्वास दृढ़ करने के लिये ऐसे भगवान महावीरादि महापुरुषों के उदाहरण की आवश्यकता होती है, जिन्होंने अपने अनुपम आत्मिक विश्वास को पूर्ण रूप से कार्य में परिणत किया है। ऐसे महान ज्ञानी पुरुषों का राग द्वेषादि समूल नष्ट हो जाने से उनका प्रवचन सत्य (स्याद्वाद) सप्रमाण तथा परमार्थमय होता है।

प्रत्येक वस्तु का स्याद्वाद रूप से प्ररूपण ही प्रमाणिक सत्य है, एकान्तवाद से यथार्थ नहीं। जैसे, कोई जन्मान्ध व्यक्ति हाथी के सूढ मात्र को स्पर्श कर वह सूढ़ को ही पूरा हाथी मान लेता है, वैसे ही आत्मा के एक अश धर्म को जान कर उस धममात्र को पूर्ण आत्म स्वरूप मानते हुए आग्रह करना तथा आत्मा में रहे हुए अन्य धर्मों का विरोध करना एकान्तवाद है जैसे, आत्मा की सत्ता-स्वरूप मात्र को पूर्ण ब्रह्म मान लेने मात्र से आत्म सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

वैसे ही आत्मा के पर्याय-उत्पत्ति, विनाश रूप परिवर्तन मात्र को पूर्ण आत्म स्वरूप मानकर आग्रह करना तथा आत्म सत्ता को न मानना ही क्षणिकवाद है। वैसे ही आत्मा के किसी एक धर्म या अश को पूर्ण आत्म स्वरूप मान कर दुराग्रह करनेवाले अन्यमत एकान्तवादी है। वस्तु के एक धर्म को अपेक्षित सत्य मानने में हर्ज नहीं, किन्तु उसका दुराग्रह कर उसके अन्य धर्मों का खडन करना ही मिथ्या दर्शन है। अज्ञानता वश जीव ऐसी भूल करता है, फलत वह अपने पूर्ण स्वरूप को जानने से वंचित रहता है।

प्रत्येक वस्तु—द्रव्य अनेक धर्मात्मक है। जिस वस्तु का जो जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। प्रत्येक द्रव्य गुण पर्यायों सहित है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त है। द्रव्य गुण सत्ता रूपसे अविनाशी तथा पर्याय रूपसे विनाशी—परिवर्त्तनशील है।

प्रमाणिक स्याद्वाद युक्ति से वस्तु के पूर्ण स्वरूप का क्रमश वर्णन किया जा सकता है, उसके आधार पर विचार करने से वस्तु का पूर्ण स्वरूप समझा जा सकता है।

अत अपने अनादि मिथ्या-दृष्टिपन को त्यागकर सम्यग् दृष्टि बनने के लिये पहले मार्गानुसारीपन—नैतिकता (साधारण धर्म) के गुण जिससे मनुष्य में पात्रता—योग्यता आती है, उसे जानना चाहिये। इस विषय को समझने के लिये निम्न चार दृष्टियों को समझना आवश्यक है। जैसे अनैतिक दृष्टि (अशुभ मिथ्या दृष्टि) नैतिक दृष्टि (शुभ मिथ्या दृष्टि), धर्म दृष्टि (शुभतर व्यवहार सम्यग् दृष्टि), तथा आत्म दृष्टि (शुद्ध सम्यग् दृष्टि)।

(१) अनैतिक दृष्टि—मनुष्य के लिये विषयुक्त भोजन की तरह है, जैसे हिंसावृत्ति, अत्याचार, बेईमानी, विश्वासघात, चोरी, द्वारा व्यभिचारादि। अत मनुष्य को इन बुरी आदतों को छोड़ना चाहिये, क्योंकि इन कार्यों से उसका कोई विश्वास नहीं करता, तथा राज से भी दंडित होता है। अत वह जन्म-भर दु खी रहता है, तथा मृत्यु के बाद नरकादि दुर्गति म अत्यन्त दुःख पाता है।

(२) नैतिक दृष्टि—मनुष्य के लिये समान्य भोजन की तरह

है, जैसे, आवश्यकतानुसार हिंसा (आरम्भादि) सदाचार, इमानदारी, स्वधन, स्वस्त्री में सन्तोष से जीवन बितानेवाला मनुष्य विश्वासपात्र बनता है, तथा वह धर्म पालने के योग्य बनता है। नैतिकता सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है। इस दृष्टिवाला मनुष्य आप भी जीता है तथा दूसरों को भी जीने देता है। किन्तु धार्मिक विश्वास घट जाने से तथा विलासिता के साधन बढ जाने से मनुष्यों की धन पिपासा तथा कामना वासना अत्यधिक बढ गई है, जिससे नैतिकता की जड खोखली हो गई है, धर्म को लोग ढोंग समझने लगे हैं। किन्तु धर्म, समाज राज्य विरुद्ध आचरण कर किस लाभ की आशा से लोग धन सचय करते हैं ? यह विचारणीय विषय है।

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाड़िये, जब लग घट में प्राण।

(३) धार्मिक दृष्टि—यह मनुष्य के लिए मिष्ट, पुष्ट भोजन की तरह फलदायक है। जैसे, अहिंसा, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, विनय, सरलता निर्लोभता, तपश्चर्या रूप धर्म पालने से मनुष्य की सद्गति होती है। धर्म मनुष्य को दुर्गति में जाने से बचाता है। तथा आत्म दृष्टि होने पर वह कर्मों के बंधन से मुक्त होता है।

(४) आत्म दृष्टि—यह मनुष्य के लिये अमृततुल्य फलदायक है। वत्थु सहावो धम्मो —वस्तु का जो स्वभाव है वही उसका धर्म है। आत्मा का चेतन लक्षण—दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव

हैं। अत आत्मा स्वरूप के यथार्थ ज्ञान में श्रद्धा, रमणता, स्थिरता ही आत्म धर्म है।

"तु तेरा सम्भाल" श्री सहजानन्द।

यह वाक्य कहनेवाले महात्मा का आशय है कि तू—आत्मा तेरा—दर्शन ज्ञानमें, सम्भाल—उपयोग रख, रमण कर। किन्तु भिन्न दृष्टिवाले चार मनुष्य अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार निम्न प्रकार से इसका अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे,

१—अनैतिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य का बुरा-अशुभ अर्थ ग्रहण करता है, "मुझे अपने शरीर को सम्भालने के लिये कहते हैं।" अत यह नीति या अनीति किसी भी तरह से धन कमाकर मासादि तामसिक भोजन तथा देहाध्याय में जीवन व्यतीत करता है।

२—नैतिक दृष्टिवाला मनुष्य इस वाक्य का साधारण शुभ अर्थ ग्रहण करता है, कि "मुझे अपने शरीर को तन्दुरुस्त रखना चाहिये" अत नीतिसे धन कमाकर राजसिक भोजन से जीवन यापन करता है।

३—धार्मिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य का शुभ विवेक पूर्ण अर्थ ग्रहण करता है कि "मुझे धार्मिक आचरण के द्वारा अपने को सम्भालना चाहिये" अत यह नीति एव धम पूवक धन कमाकर दानादि देता हुआ, सात्विक भोजन से जीवन यापन करता है।

४—आत्मिक दृष्टि वाला मनुष्य इस वाक्य के मर्म को समझ कर शुद्ध-यथार्थ अर्थ ग्रहण करता है। कि "मुझे अपने

आत्म-स्वभाव में रमण करना चाहिये।" अत वह अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग रखता हुआ, शुभाशुभ कर्मों के उदय में अव्यापक रहकर ज्ञाता, द्रष्टा साक्षी रूप से जीवन यापन करता है।

इन उदाहरणों से आप आत्मदृष्टि सम्यग् दृष्टि की महिमा महसूस करते होंगे तो आप सम्यग् दृष्टि बनने के लिये प्रयत्न शील होवें। यह निकट भव्य जीव का लक्षण है। इससे उत्तरती धार्मिक दृष्टि की उपयोगिता है ही। जिसमें दया, दान, व्रत, नियम, क्षमादि की आराधना कर्तव्य है। अत इस "आत्म जागृति" पुस्तक में सम्यग् दर्शन–तत्वों को यथार्थ समझने, जानने प्रतीति करने के लिये यह अल्प प्रयास किया गया है। आशा है, कि आप आत्म हित के लिये इसे अवश्य ध्यान पूर्वक पढ़कर लाभ उठावेंगे।

मेरा यह प्रथम प्रयास होने से सर्वज्ञ की वाणी के प्रतिकूल लिखा गया हो, अथवा दृष्टि चूकने से अशुद्धियां रह गई हों, उसके लिये मन, वचन काया से मिच्छामि दुक्कडम् देता हूँ।

तथा आप से निवेदन है कि अशुद्धियों का सुधार कर पढ़ें। श्री भवरलाल नाहटा आदि ने प्रूफादि संशोधन किया है, अत उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

विनीत—केशरी

ॐ

परम योगिराज सद्गुरु श्री सहजानन्दजी

के कर-कमलों में विनय भक्ति

पूर्वक सादर समर्पण।

विनीत—भंडारी

स्व० मातेश्वरी हीरादेवी

पच्चीस वर्ष की अल्प वयस् में विधवा होनेके बाद गृह तथा शरीर के कार्य को गौणरूपसे चलाते हुए आत्महित के लिये भगवान महावीर के बतलाए श्राविका के १२ व्रतों को मुख्य रूप से पालन किया। तथा श्री नवपद ओली बीशस्थानक ओली आदि तपश्चर्याएं तथा तीर्थयात्राएँ कर अपना मनुष्य जन्म सफल किया।

जन्म वीर सं २४१] [देहान्त वीर २४८२

विषय सूची

आत्म जागृति

ॐकार बिन्दु-सयुक्त नित्य ध्यायन्ति योगिन.
कामद मोक्षद चैव ॐकाराय नमोनम ।

ॐ मे पच परमेष्ठि स्थित है। जैसे, आराध्यदेव अरिहत भगवान एव ध्येय स्वरूप सिद्ध परमात्मा। सहायक सद्गुरु जैसे, आचार्य साधु, उपाध्याय साधु, एव अढाइ द्वीप के पन्द्रह कर्म भूमियो म मोक्ष मार्ग का साधन करनेवाले सब साधु, इनका मोक्ष साधन मार्ग आत्म धर्म सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप, याने मोक्ष साधक आत्माओं से लेकर लक्ष्य स्वरूप सिद्ध परमात्मा पर्यन्त समाया हुआ है।

ॐकार प्रणव, अनादि मत्राक्षर है, एव पच परमेष्ठि बीज, त्रैलोक्य बीज तथा चौदह पूर्वो का सार है।

अत विनय भक्ति से नमस्कार, वन्दन, स्मरण करने से सर्व पापों का नाश होता है।

प्रवृत्ति से निवृत्त हो, सामायिक लक्ष्य—'ॐ' का अपने मुख मण्डलमें इस प्रकार स्थापना करें, जैसे, 'ब्रह्मरन्ध्र' मस्तक के मध्य बिन्दु मे अपने परम लक्ष्य स्वरूप सिद्ध परमात्माको, 'भृकुटि' चन्द्र मे अपने आराध्य देव अरिहत भगवान को, एव नाक पर आचार्यसाधु, होंठ पर उपध्याय साधु, ठाडी पर सबसाधुओं को ॐकार स्वरूप मे स्थापित कर विचारपूर्वक एकाग्रता से ॐ नम का नियमित जप करने से तथा हमेशा मनम स्मरण रखने से जीव की अवस्था उन्नत होती है। क्रमश आत्म जागृति होनेपर समता भाव धारण कर मनुष्य मोक्ष के अनुकूल बनता है।

महामत्र नवकार, चौदह पूर्वों का सार

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं, एसो पंच णमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाण च सव्वेसिं, पढम हवइ मंगलं।

सिद्ध परमात्मा श्रेष्ठ होने पर भी, अरिहत भगवान ने मोक्ष का मार्ग एव सिद्धो का स्वरूप हमे बतलाया है। अत परम उपकारी होने के कारण उनको पहले नमस्कार करते है।

चचलता को कम कर मन को एकाग्र करने के लिये तथा एक ध्यान से नवकार का स्मरण-जप करने के लिये ऊपर ॐकार की स्थापनादि की विधि बतलाई है।

इस प्रकार एक चित्त से जप करने से, मन एकाग्र होकर सधेगा, फलस्वरूप शान्ति, आनन्द प्राप्त होगा। मन को विशेष रूप से साधने के लिये ध्यानाधिकार म पिण्डस्थादि ध्यान पढ़े।

ॐ नम

आत्म जागृति

ॐ वीतराग भगवन् महावीराय नम

ॐ सहजानन्द आत्म स्वरूप सद्गुरुभ्यो नम

जीव की बहिरात्मदशा, अन्तरात्मदशा और परमात्मदशा।

(आत्म-स्वरूप-विकाश-ज्ञान साधन)

अनादि काल से जीव की चेतन-शक्ति अज्ञानतावश ससार भ्रमण का कारण बन रही है। उस चेतन शक्ति रूप जीव के अनादि भ्रमजाल को नाश करने मे समर्थ वीतराग सर्वज्ञ देव की अमृत तुल्य वाणी को, तथा उसके मर्म को समझ कर उसे अपने जीवन में वर्तनेवाले सद्गुरु को विनय भक्ति से वन्दन करता हूँ।

आचारांग सूत्र से —'एग जाणइ से सव्व जाणइ',

भावार्थ —जिसने आत्मा को पहचाना, उसने अन्य सब जाना।

भगवती सूत्र से —'आया खलु सामाइय',

अर्थ —आत्मा ही सामयिक है।

भावार्थ —आत्मा का स्वभाव समभाव है, विषम भाव नहीं।

विषम भाव —ममता-रमता अज्ञता, चचलता दु ख भाव,
मोह-वेदकता भ्रमणता यह सब जीव विभाव।

सम भाव —समता-रमता विज्ञता, अचलता सुख भाव,
ज्ञान वेदकता स्थिरता, यह सब जीव स्वभाव।

समता भाव आत्म साधन-स्वरूप

चेत चेत रे चेतन, नव जागरण के स्फुरण में।
रख निर्वैर बुद्धि जगत् के जीवा से,
रख अहिंस बर्ताव जगके प्राणियों से।
रख सम भाव साधक! आत्मा—परमात्मामें,
रख अटल विश्वास सर्वज्ञ के अनुशासन में ॥१॥
रह कमलवत् निर्लेप जगत् के जीवन मे,
रह अचिन्त्य कल्पित दु खों के क्रन्दन मे,
रह अलिप्त क्षणिक सुखों के स्पन्दन मे,
रह चपल जग मे अचल स्वसमवेदनमें ॥२॥
कर अचल श्रद्धा चेतन स्वभाव के स्फुरण मे,
कर अखड बोध चिन दर्शन ज्ञान के स्पदन मे,
कर अकम्प साधना चेतनस्वरूप के उपयोगनमें,
कर असीम स्थिरता चेतनस्वरूप के विकाशन मे ॥३॥

समता भाव का फल —

लहे वीतराग दशा जगत् के जीवन से,
लहे निर्विकल्प दशा धन से तन मनसे,
लहे केवल ज्ञान दशा चेतन-सत्ताके मध्य से।
लहे परमानन्द दशा चेतनशक्ति के व्यक्त मे ॥४॥

मनुष्य गति रूप वृक्ष का उदाहरण—

मनुष्यों का सरलतासे आत्म बाध करानेके लिये ज्ञानियोकी युक्ति।
मोह-लोभ रूपी हाथी मनुष्य गति मे रहे जीवा की जिन्दगी

को बरबाद कर रहा है। वृक्ष की 'आयुकर्म, वेदनीय कर्म रूपी' दो डालियों के सहारे मनुष्य लटक रहा है। वृक्ष मे रहे हुए मधु के छत्ते रूपी पुण्य, जिससे टपकती हुई सुख रूप बून्दों का भोजन कर मनुष्य प्रसन्न हो रहा है। उसके मिठास में वह आसक्त है, पागल है। इधर मनुष्य-आयु-वेदनीय रूप दो डालों को 'दिन या रात रूप' चूहे खाकर नष्ट कर रहे हैं।

नीचे भयानक ससार समुद्र है, जिसमे 'चारगतिरूप' चार मगरमच्छ वृक्ष से गिरनेवाले मनुष्य को हड़पने के लिये तैयार है। लोभी मनुष्य की ऐसी दयनीय दशा देखकर सम्यग्दृष्टि सत पुरुष उस दिशा मूढ़ मनुष्य को उसकी दयनीय अवस्था का भान कराना चाहते हैं, उसे उसकी करुणाजनक दशा से सचेत करना चाहते हैं।

किन्तु बूद-बूद सुख में आसक्त मनुष्य कहता है, कि जरा ठहरिये, यह गिरती हुई बूँद को लेलूँ। उस बून्द को लेने के बाद, सद्गुरु उसे फिर सावधान करते हैं, लेकिन बारम्बार वही जवाब मिलता है। देखिये, विचारिये उस मनुष्य की कैसी मूढ़ दशा है।

भव्य जन! आप भी अपनी अपनी लोभ दशा से तुलना कर। सुख सब को प्रिय है, क्योंकि जीव को पुण्य के फल रूप सुख का स्वाद मीठा लगता है। किन्तु जैसे मिठाई मीठी होने के कारण अच्छी लगती है, लेकिन जरूरत से ज्यादा खाने मे आजाने से कुछ समय के लिये उससे अरुचि हो जाती

है, तथा अजीर्ण होकर स्वास्थ्य बिगडता है। वैसे ही मनुष्य अपने पच इन्द्रियों के तेईस विषयों में रुचि-कामना करता है। उनको भोगते हुए उनके स्वाद में आसक्ति होने के कारण उसकी तृष्णा अधिक बढ़ती है।

किन्तु भोगोदय के अतिरिक्त अपनी बढ़ती हुई इच्छा के कारण अधिकाधिक भोग भोगता है, तथा आसक्ति के नशे म बेभान हो जाता है, फलस्वरूप वह दु खी होकर, मरने पर दुर्गति में जन्म लेता है।

मोह, लोभ से मूर्छित मनुष्य ऐसे क्षणिक सुख, जिसका फल दु खदाई है, तथा दूसरों के सयोग से मिलता है, एव उसे पराधीन बनानेवाले दु ख रूप सुखों को अपना सुख मानने की भूल करता है।

१—जैसे, नींद मे सोया हुआ मनुष्य अपने स्वप्न को सत्य घटना मानता है, तथा जागने पर स्वप्न को असत्य मानता है, तथा अपने जीवन को सत्य मानता है, किन्तु वह अपनी मृत्यु के समय इस जीवनको भी स्वप्न की तरह असत्य समझ पाता है।

किन्तु खेद ! समय पर वस्तुस्थिति को न समझने से अवसर चूक जाता है। दुर्लभ मनुष्य जीवन को निरर्थक खो देता है। अत समय रहते मनुष्य को सचेत होना कर्तव्य है।

२—जैसे, बालकपन म मनुष्य अपने खेल कूद को महत्त्व देता है, जब वह जवान होता है, तब बाल लीला को उपेक्षा से

देखता है, तथा अपनी प्रेम लीला को महत्त्व देता हैं। लेकिन जब वह वृद्ध होता है, तब प्रेम लीला को उपेक्षा से देखता हुआ, अपने मान सन्मान को विशेष महत्त्व देता है।

३—इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मनुष्य अपने परिवार तथा शरीरादि को ही अपना समझ उनके कल्पित सुखों के काम में हमेशा व्यस्त रहता है। उसे अपना कर्तव्य समझ मुख्य रूप से महत्त्व देता है।

अतः जैसे, दीये से दीया जलता है, वैसे ही उस मिथ्या-दृष्टि मनुष्य को सम्यग्दृष्टि सद्गुरु सावधान कर कहते हैं।

हे, भव्य जीव। तू शरीर को ही स्वयं मान रहा है, तथा शरीर इन्द्रियों के सुख को ही अपना सुख मानने की भूल अनादिकाल से करता आ रहा है। इसीलिये तु अब तक दुःख-दायी ससार भ्रमण कर रहा है। यदि मनुष्य जीवन पाकर अब भी इस भूल को न सुधारेगा, तो कब सुधारेगा? अनन्त भविष्यकाल जो सामने है, उसमे यदि दुःख नहीं पाना हो तो सचेतन हो, सावधान होकर अपने ज्ञान चक्षु को खोलकर अपनी दृष्टि को सम्यग् बना, यान वस्तु स्थिति को यथार्थ रूप से देखने की अपनी शक्ति को शुद्ध बनाने का प्रयत्न कर। जैसे, एक जौहरी की दृष्टि, एक पुड़िया मे मिले हुए हीरों तथा कांच के टुकड़ों की परीक्षा कर काच के टुकड़ों को अलग कर हीरों का उचित मूल्य लगाने से उस जौहरी को अपने व्यापार मे लाभ होता है। नजर चूकने से यदि वह कांच के

टुकड़े को हीरा समझने की भूल करता है तो उसे व्यापार में नुकसान होता है। इसी तरह, हे भव्य आत्मन! तुम शरीर में रहते हुए अपनी आत्मा 'चेतन लक्षणयुक्त दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव' को पहचानो, प्रतीत करो, हार्दिक श्रद्धा करो।

भवरूपी सागर को पार करने में जहाज के समान पुष्ट अवलम्बनरूप वीतराग भगवान महावीरादि को अपना आराध्यदेव मानो, उनके प्रवचन के मर्म को समझकर उनके बतलाये मोक्ष मार्ग का अनुसरण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु को सद्गुरु मानो, उनकी आज्ञाओं को सत्य धर्म मानो, एवं उनकी स्याद्वाद रूप वाणी को सत्य शास्त्र मानो, श्रद्धा करो, यथा शक्ति अनुसरण करो।

ऐसे सत् उपदेश से यदि मनुष्य प्रतिबोध पावे, तथा अपने चिर शत्रु मोह-ममता, तीव्र क्रोध मान, माया लोभ रूप कषाय भावों को उपशमादि करके शान्त कर सके तो उसकी दृष्टि सम्यग् बनने से वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तथा अपने अनादि मिथ्या भाव को छोड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की आत्मा जाग्रत् होने से, स्व-पर के भेद ज्ञान रूप सद् विवेक उसे होता है। इस विवेक ज्ञान के द्वारा वह अपने शरीरादि को अजीव, जड़, विनाशी मानता है, एवं अपनी आत्मा के चेतन शक्ति रूप दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव के अविनाशी स्वरूप को जानता है। उसे ऐसा भान होता है, कि जैसे, दूध में घी, तिल में तेल समाया हुआ है प्रयत्न करने से अलग हो सकता है। उसी

प्रकार अनादिकाल से जीव अपने कर्मों के बंधन से जकड़ा हुआ है, यदि वह अपने कर्मों के फल शरीरादि में मोह-ममता करना छोड़े तथा उसके सुख में राग, दुःख में द्वेष करना कम कर, आत्म साधन करे तो कर्मों के बंधन से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य को आत्म विश्वास होने से वह अपनी बुरी करणी पाप का कड़वा फल दुःख, अच्छी करणी पुण्य का फल सुख की परख, पाप पुण्य आने का मार्ग आश्रव की परख, तथा आश्रव से आते हुए कर्मों को रोकने रूप संवर की परख पहचान करता है, तथा वह बंधे हुए कर्मों से आंशिक छुटकारा रूप निर्जरा, तथा सब कर्मों से स्वतन्त्रता रूप मोक्ष परम शान्त परमानन्द दशा का समझ पाता है, श्रद्धा करता है।

मन शुद्धि की मुख्यता

मनुष्य का ऐसी समझ हो जाय, उसमें उसका आन्तरिक विश्वास हो तो वह अपने संकल्प विकल्प रूप चंचल मन को समझाकर अपने मार्ग-साधन में उसकी शक्ति का प्रयोग कर, आत्म-साधन कर सकता है। इसे ही मन शुद्धि समझ। इस प्रकार बहिर्मुखी मन को संसार से, संसार के कल्पित क्षणिक सुखों से विमुख कर मनुष्य अपनी आत्मा में अपने चेतनशक्ति रूप दर्शन ज्ञान उपयोग मात्र मे स्थिर कर मन को अन्तर्मुखी कर सकता है। सच्चे योगी इसे योग कहते हैं। इस प्रकार बहिर्मुखी बाधक मन को अन्तर्मुखी साधक मन बनाकर सतत अभ्यास से मनुष्य समय आनेपर अपने कर्मों के बन्धन से

स्वतन्त्र हो सकता है। शास्त्रों में कहा भी है कि मनुष्य का मन कर्म बन्ध में तथा मोक्ष में कारण है।

अत मन-शुद्धि का सरल उपाय—मन मद मैल दूर वहा, रे चेतन। प्रभु भजन से, मन मद-मैल दूर वहा।

मोह से भ्रम में रहा हुआ मनुष्य (चाहे वह पंडित ही क्यों न हो) वह अपने अनित्य शरीरादि के रूप में, बल में, धन में, लाभ में कुल जाति में तथा अपने पांडित्य में, तप-जप के मद में अन्धा बन जाता है। उन नाशवान वस्तुओं में अपनापन तो (मिथ्यात्व) बुरा है ही, उसपर उनका मद करने का फल कितना बुरा हो सकता है, इसका आप स्वयं विचार करें। मद-अभिमान करना छोड़गे तब आपका मन पवित्र हो, आत्मसाधन करने योग्य बनेगा।

मनुष्य झूठे अभिमान तथा अपने अनादि स्वच्छन्द विचार व प्रवृत्ति को छोड़कर जब सम्यग्दृष्टि बनता है, इसका कितना महत्त्व है, यह आप इस उदाहरण से अनुभव कर सकेंगे।

भगवान् महावीर, गौतमादि ११ गणधर

अपने पाण्डित्य से गर्वित इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण वेद उपनिषद् के पारगामी, पाँच पाँच सौ शिष्यों को शिक्षा देने-वाले, आत्म अनुभव न रहने से अज्ञानी थे, तथा व्यावहारिक पाण्डित्य के मद में अपना जीवन बिता रहे थे। किन्तु शुद्ध निमित्त कारण रूप भगवान महावीर का उन्हें सयोग मिला। भगवान् ने उनके दृष्टिभ्रम को उनके ही शास्त्रों से निवारण

क्रिया। तब उनका पाण्डित्य गर्व गलकर बहने से उन्हें सम्यग्दर्शन आत्म-बोध हुआ, फलस्वरूप उन्होंने ही 'त्रिपदी' पर से 'द्वादश अग' सूत्र पाठों की रचना की। वे ही गौतमादि ११ गणधर हुए।

देखा आपने। अनादि अन्तर्मद बह जाने से मनुष्य कितना शीघ्र सम्यग्दृष्टि बन कर, यथासमय आत्मसिद्धि कर सकता है। अत आप स्वय विचार कर अपना कर्तव्य स्थिर करें।

आत्महित के लिये धन, रूपादि पर के अपने मिथ्या अभिमान को छोडने में सहाय रूप चार शरणों का स्मरण रखें। मुझे सिद्ध परमात्मा की शरण है। अरिहत भगवान् श्रीसीमधर स्वामी की शरण है। भगवान् महावीर के मोक्षमार्ग धर्म की शरण है। मुझे सम्यग्दृष्टि सुसाधु की शरण है।

श्री सहजानन्द कृत पद —

अनुभव बिना शु जाणे व्याकरणी ॥ अनुभव ॥
कस्तुरी निज डुंटीमा पण लाभ न पामे हरणी,
पीठे चन्दन पण शीतलता पामे नहीं खर धरणी ॥अनुभव॥
भाव धर्म स्पर्शन विण निष्फल तप जप सयम करणी,
शब्दशास्त्र सद्भाव धर्मता, सहजानन्द निसरणी॥अनुभव॥

॥ ॐ शान्ति ॥

ॐ नम

पाप, पुण्य रूप आश्रव बध एव सवर-निर्जरा भाव का सार।

पमाये कम्म माहेसु, अप्पमाय तहावर ।

तब्भाव देसओ-वावि, बाल पडिय मेव वा ॥

सू० कृ० १ श्रु०, ८ अ० ३री गाथा।

भावार्थ—प्रमत्त दशा को कर्मरूप तथा अप्रमत्त दशा को अकर्म रूप आत्मस्वरूप कहते है। ऐसे भेद से अज्ञानी एव ज्ञानी का स्वरूप समझा जाता है।

मिथ्यात्वे भ्रम, क्रियाए कर्म, परिणामे बध, एव उपयोगे धर्म,

१—मिथ्यात्वे भ्रम—'जीव को अज्ञानता से भ्रम होता है।

२—क्रियाए कर्म—'जीव के मन, वचन, काया रूप योग की क्रिया से—सचालन से पुद्गल वर्गणा रूप कर्म आकर्षित होकर 'उसके आत्मप्रदेशो मे' लगते है।

३—परिणामे बध—जीव के राग—माया लोभ, द्वेप—क्रोध-मान रूप कपाय भाव के तारतम्य परिणाम से आये हुए कर्म प्रदेशों में तरतम स्थिति, शक्ति (रसबन्ध), एव प्रकृति—स्वभाव का बन्ध 'जीव के असख्य प्रदेशों से होता है।

४—उपयोगे धर्म—'जीव के अपने चेतन स्वभाव मे' उपयोग रखने से धर्म—आत्मधर्म की सिद्धि होती है।

पर मे अपनेपन के भ्रम के कारण, जीव के योग की क्रियाओं से पुद्गल वर्गणा रूप कर्म आकर्षित हो उसके आत्मप्रदेशों में लगते है। इसे प्रदेश बन्ध कहते है।

जीव के कषाययुक्त—विषम परिणामों के तारतम्यता से कम रूप से आये हुए वर्गणामे स्थिति का बन्ध तारतम्य रूप से होना है। जीव के कषायों की तीव्रता से मोहनीय कर्म की स्थिति-अधिक म सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति का बध उसके प्रदेशों म होता है। इसे स्थिति बध कहते हैं।

जीव के कषाय युक्त परिणाम मे शुभाशुभ छ लेश्या की तारतम्यता से उन आये हुए कर्मों की शक्तिरूप से बध (रसबध) मे तारतम्यता होती है।

उन कर्मों के विपाक से जीव का अपने कर्मफल भोगते समय वैसे ही तारतम्य भाव से सुख या दु खादि भोगना पड़ता है। इसे रसबध कहते हैं।

जीव की जैसी जैसी मनोवृत्ति रहती है, उन कर्मों मे वैसे-वैसे मोहनीयादि आठ कर्मरूप स्वभाव बध जाते हैं। इसे प्रकृति बन्ध कहते हैं। कर्म उसके असख्य प्रदेशों मे दूध मे पानी की तरह मिलकर बध जाते हैं।

उन बधे हुए कर्मों के उदयानुसार जीव को शरीरादि का सयोग मिलता है, तथा उन कर्मों का उदय भाव, चेतनशक्ति के सयोग से जीव को चेतनरूप से भासते हैं। जीव को ऐसा भासने के कारण उसे अपने कर्मानुसार मिले हुए शरीरादि में मोह ममता होती है, तथा उसके सुख म राग, दु ख म द्वेष होता है मोहनीयादि कर्मों के प्रभाव से भ्रमवश जीव ऐसी भूल अनादि काल से करता आया है।

पर्याये दृष्टि न दीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे।

श्री आनन्दघन

अत जीव अपने मनुष्य जीवन में बुद्धि-विवेकरूप शक्ति पाकर भी अपने इस अनादि भूल को न सुधारे तो कब सुधारेगा ? यह विचारणीय है। इस अनादि भूल को सुधारने की प्रेरणा के लिये ऐसे महावीरादि महापुरुषों के उदाहरण की आवश्यकता होती है, जिन्होंने अपनी इस अनादि भूल को जड़-मूल से सुधार कर अपने अनुपम सिद्ध स्वरूप को प्रगट किया है। ऐसे महान् पुरुषों का जीवन, उनका अमृत तुल्य हितोपदेश उदाहरण रूप से भव्य जीव के सामने आने से उन्हें अपने आत्मा के सत्य स्वरूप पर विश्वास करने का अवसर मिलता है। मनुष्य उस विश्वास के कारण अपने सत् स्वरूप का दिग्दर्शन करानेवाले भगवान् महावीरादि के प्रति आकर्षित होकर विनय भक्ति से वंदन करता है। तथा उनके अमृत तुल्य वाणी के आशय को समझने के लिये, उनके निर्देशित मार्ग में चलनेवाले सत पुरुष का सत्संग करके, अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करना चाहता है।

ऐसा सुयोग मिलने पर मनुष्य को अपने सत् स्वरूप का भान होता है। अत वह अपने सत् स्वरूप के बाधक-मोह तथा कषायों को अपना चिर शत्रु मान उसे नाश करने में प्रयत्नशील बनता है। जैसे-जैसे उदित तीव्र कषाय भाव को उपशम—शान्त करने में वह सफल होता है, वैसे-वैसे उसके तीव्र मोह-ममता रूप भ्रम का पर्दा हटता है। अन्त में दर्शन मोहनीय रूप

भ्रम का पर्दा फाँस हो जाने से अपने चेतन सत्ता में शक्ति रूप से बीज रूप से रहे हुए केवल ज्ञानादि स्वरूप का बोध, उसे प्रतीति रूप से होता है। तब रूपी पदार्थों का दृश्यमान जगत् उस को पुद्गल, जड़ रूप से भासता है, तथा उसमें रहे हुए चेतन शक्ति का भान आत्म रूप से पृथक् भासता है। ऐसा बोध करने वाला वह स्वयं आत्मा है। ऐसे आन्तरिक अनुभव को, उस पर अटल श्रद्धा को भगवान ने निश्चय से सम्यग् दर्शन कहा है। मनुष्य के ऐसे भान को आत्म-जागृति समझनी चाहिये।

मनुष्य की आत्मा जाग्रत् होने से उसे अपने अशुभ (पाप) शुभ (पुन्य) शुद्ध (आत्म उपयोग) तथा विशुद्ध (शुद्धात्म उपयोग भावों की पहचान होती है।

वह अशुभ भाव को पाप रूप लोहे का बन्धन, तो शुभ-भाव को पुण्य रूप सोने का बन्धन मानता है। दोनों को बन्धन रूप से समान जानता है। दोनों बन्धनों का अनुभव उसकी स्मृति में रहने से क्षणिक सुख भी उसे दुःख रूप भासते हैं।

पूर्व कर्म के उदयानुसार उसके शुभ या अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु उन भावों को वह त्यागने योग्य मानता है और उनके कार्यों में साक्षी रूप से वर्तता है। इस प्रकार उन भावों के उदय काल में उसमें अव्यापक रह कर, क्रमशः उन्हें नष्ट करता है।

जब उसका मन अन्तर्मुखी होकर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मात्र में व्याप्त हो जाता है—समाधिस्थ हो जाता है,

रूप उसे यह शुद्ध भाव मानता है। उसे यह भाव-आत्म अनुभव प्रवाह पसन्द है। अत उस भाव को बनाये रखने में प्रयत्न शील रहता है।

किन्तु शुभाशुभ कर्मों का उदय उसे उस स्थिति में अधिक ठहरने नहीं देते। लेकिन वह उन शुभाशुभ भावों में रमता नहीं, अन्यापक रहने का प्रयत्न करता है, क्योंकि इनमें उसकी रुचि नहीं रही। वह ध्यान के समय अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का भान अनुभव रूपसे करता है तथा अन्य समय प्रतीति रूपसे करता है।

जब जब शुद्ध आत्म स्वरूप का भान वह भूलता है तथा शुभाशुभ भाव में रमता है, उसे वह प्रमत्त दशा मानता है।

अत वह अपने शुभाशुभ भाव को हेय—त्यागने योग्य तथा शुद्ध भाव को उपादेय—आदरने योग्य मानता है, एव विशुद्ध भाव को लक्ष्य रूप से जानता है, आन्तरिक श्रद्धा करता है।

मनुष्य अपने शुद्ध आत्म स्वरूप के भान के साथ यदि ऐसा उपयोग रख सके तो वास्तविक रूप में धर्म सकाम निर्जरा होती है, यानि इससे आत्मा की शुद्धि होती है। क्रमशः विशुद्धि तथा समय आनेपर पूर्ण विशुद्धि होकर रहेगी। इसे अप्रमत्त दशा कहते हैं। अत भव्यजन का कर्तव्य है कि अपनी अनादि भूल को समझें, समझकर उसे त्यागें। स्वच्छन्दता से वर्तन रूप अपने जीवन को समझ तथा स्वच्छन्दता को अपने जीवन से निकाल देने के लिये कटिबद्ध हो जायें। स्वच्छन्दता यह है कि शरीरादि

मे मोह भ्रमवश सुखमे राग करना तथा दुख मे द्वेष करने रूप प्रवृत्ति एव अपनी कल्पनानुसार धर्म प्रवृत्ति करते हुए, सर्वज्ञ के वचन की उपेक्षा कर स्वच्छन्द जीवन यापन करना।

स्वच्छन्द जीवन त्यागने के लिये, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के मूल कारण क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विषम भाव को छोडना अनिवार्य है। अत भव्य मनुष्य को उदय म आनेवाले अपने कषाय भावों को सतर्कता से उपशम शान्त करते रहना चाहिये। यही उनका कर्तव्य है, आन्तरिक साधना है, सवज्ञ के प्रवचन के आशय को समझ कर धर्म आराधन करना कर्तव्य है।

श्री सहजानन्द कृत प्रथम पद—

> परद्रव्ये एकत्वता, उदये व्यापक भाव,
> राग द्वेष अज्ञान थी, जन्म मरण दुख दाव।
> पर कर्तृत्व अभ्यास थी, अनादि आ ससार
> निज कर्तृत्व अभ्यास थी, टले ससरण असार।
> मच्छ वेध साधक परे, सामे पूर तराय,
> जाण-नार जोनार मां, सुरता एम ल्वाय।
> निज सत्वे एकत्वता, उदये अव्यापक भाव,
> ज्ञाता द्रष्टा साक्षीये, उपजे मोक्ष स्वभाव।
> सहस्र पत्र पकज परे, मद्म नलिनी मांय,
> आतम आतमता धरे, सहजानन्द-घन लांय।

बलदेव रामचन्द्र, भ्राता वासुदेव लक्ष्मण ।

ऐसे उदयमें अव्यापक साक्षी रूप से या व्यापक अभिमान से, एक ही प्रकारसे बाह्य जीवन बिताने पर भी उनके फल में दिन रात जैसा अन्तर हो जाता है। इसे आप श्री रामचन्द्र तथा लक्ष्मण के जीवन से, अर्थात् अन्तर में साक्षी रूप में रहनेवाले श्री रामचन्द्रके स्वभाव से तथा अन्तर में व्यापक-अभिमान से रहनेवाले लक्ष्मण के स्वभाव से तुलना कर निर्णय कर सकते हैं। कथानक —रानी कैकयी के अभिप्राय से, पिता दशरथ की आज्ञा से श्री रामचन्द्र १४ वर्ष के लिये वनवास गये। प्रेमवश सीता, स्नेहवश लक्ष्मण भी इनके साथ गये। वहाँ प्रतिवासुदेव रावण ने सीता हरण किया। सीता को उसके पंजे से निकालने के लिये दोनों भाइयों ने युद्ध की ठानी, तथा अपने हनुमान सेनापति के साथ दोनों ने रावण के राज्य लंका पर चढ़ाई कर दी। रावण के दानवों जैसी क्रूर सेना का दोनों भाइयों ने जान-जान से सामना किया, जिसमें वासुदेव लक्ष्मण के घायल हो मूर्छित हो जाने तक की नौबत आई। इससे आप लड़ाई की भयानकता का अनुभव कर सकते हैं। अन्त में रावण मारा गया, दोनों भाइयों की विजय हुई। तथा सीता को लेकर वापस अपने राज्य अयोध्या आए। भाई भरतादिकी प्रार्थना से रामचन्द्रजी गद्दी पर बैठे, राज्य चलाया। इधर लक्ष्मण वासुदेव प्रतिवासुदेव रावण को जीतने से भरतक्षेत्र के तीन खण्ड राज्य के स्वामी बने। अब विचारिये

ॐ नमः

आत्मदृष्टि मनुष्य का अनासक्त गृह जीवन।

जेसिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे।
ममाइ लुप्पई बाले, अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए॥

सु० कृ० १ श्रु० १ अ ४ थी गाथा

भावार्थ—जिस कुल में जीवने जन्म लिया, एवं जिनके सहवास में वह रहता है, उसमें अज्ञानी जीव ममता करता है, तथा निमग्न रहता है।

अन्यत्व भावना

ना मारां तन रूप कांति युवती, ना पुत्र के भ्रात ना,
ना मारां भृत स्नेहियो स्वजन के, ना गोत्र के ज्ञात ना।
ना मारां धन धाम यौवन धरा, ए मोह अज्ञात्वना,
रे! रे! जीव विचार एम ज सदा, अन्यत्वदा भावना।

—श्री राजचन्द्र

सम्यग् दृष्टि—मनुष्य अपने आत्मा को इस प्रकार मानता है। जैसे —

१—'मैं' आत्मा हूँ, चेतन लक्षणयुक्त, ज्ञाता दृष्टा मात्र अविनाशी आत्मा हूँ।

निश्चयसे—निज स्वभाव ज्ञानादि का कर्ता भोक्ता हूँ नित्य, अरूपी, अनाहारी तथा अक्रिय हूँ।

व्यवहारसे—अज्ञानवश शुभाशुभ आठ कर्मों का कर्ता, उनके फल का भोक्ता हूँ, रूपी, आहारी, सक्रिय, विनाशी हूँ तथा इनमें स्वाभिमान करने के कारण संसार भ्रमण कर रहा हूँ।

२—शरीर, मन, इन्द्रिय पुद्गल हैं, जड है, रूप, रस, गध, स्पर्श रूप हैं, क्षणस्थायी, विनाशी तथा अजीव हैं।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य मानता हैं, कि—आत्मा तथा शरीर दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं, दोनो का स्वभाव भिन्न भिन्न है। मेरा त्रिकालिर स्वभाव चेतन स्वरूप है, तो शरीर विनाशी जड-रूप है।

किन्तु अनादि काल से जीव मोह ममतारूपी नशे के कारण शरीर में ही अपना अस्तित्व तथा सुख मानता आ रहा है। अज्ञानवश शरीर से अलग अपना अस्तित्व ही नहीं समझ पाता। इसलिए मनुष्य अपने मन, शरीरके अनुकूल अवस्था में सुख, प्रतिकूल अवस्थामे दुःख मान रहा है।

अतएव शारीरिक मानसिक दुःखों से वचने के लिये तथा तथा सुख के साधन सचय करने के लिये उहरात दिन परिश्रम करता है।

फलस्वरूप उसे क्षणिक सुख भले ही मिले, किन्तु आरभ समारभ रूप पुरुषार्थ म व्यस्त रहने से तथा आर्तध्यान, रौद्र-ध्यान रूप अध्यवसाय रहने के कारण से मनुष्य, तिर्यञ्च गति (पशु पक्षी, वनस्पति, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि) के अथवा नरकादि रूप दुर्गति के अनुकूल कर्म उपार्जन कर लेता है। इस प्रकार वह अनादिकाल से चारगति के चौरासी लाख जोवा-योनियों मे 'कोल्हू के बैल की तरह' जन्म मरण रूप चक्कर लगा रहा है। जब तक उसे निज आत्म स्वरूप का बोध न होगा, तब तक [illegible] प्रकार भ्रमण करता ही रहेगा।

उपने मोह निकल्प थी, समस्त आ ससार,
अन्तर् मुख अवलोकता, विलय थता नहीं चार।
—श्री राजचन्द्र

यदि अपने इस महान दु खदायी भ्रमण का अन्त करना है, कर्मों से सतप्त आत्मा को शान्त करना है, तथा अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन को सार्थक बनाना है। तो अपने विश्वास एव विचार शक्ति का, छोडने योग्य आर्तध्यान, रौद्रध्यान रूप अध्यवसायो मे प्रयोग करना उचित नहीं है। अत अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति को त्यागने तथा धर्म ध्यान आराधन के लिये पहले निम्न तीन शल्यों को त्यागना आवश्यक है। जैसे—

(१) माया शल्य—दम्भ कपट से धर्म क्रिया करना।

(२) नियाणा शल्य—इसलोक तथा परलोक के पौद्गलिक सुख के लिये धर्म करना।

(३) मिथ्यादर्शन शल्य—विपरीत समझ से धर्म आराधन करना।

अत इन तीनों शल्यों—कांटों को हृदय से निकालकर अपने विश्वास तथा विचारशक्ति को आत्म शुद्धि के लिये निम्न प्रकार से धर्म साधन म प्रयुक्त करना कर्तव्य है। जिससे मनुष्य को आत्म दर्शन निज स्वरूप का यथार्थ बोध होना सुगम है।

अज्ञान तिमिरान्धाना, ज्ञानाञ्जन शलाकया,
नेत्रमुन्मीलित येन, तस्मै श्री गुरवेनम ।

भावार्थ—मनुष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से दूर कर उसके ज्ञान रूपी नेत्र को खोलने में समर्थ सद्गुरु को नमस्कार है।

१—विनय धर्म का मूल है। अतः विनयपूर्वक पुष्ट अवलम्बन रूप भगवान महावीरादि के प्रतीक स्वरूप जिन मूर्तियों का पूजन, स्तवन, भक्ति आदि करना धर्म साधन है।

२—भगवान की आज्ञा में चलनेवाले सुसाधुओं की सेवा, सुश्रुषा कर उन्हें शुद्ध आहार पानी देने से मनुष्य धर्म के योग्य बनता है।

३—उनका सत्संग कर सत्शास्त्र अध्ययन, मनन करने से।

४—उनकी वाणी के मर्म को समझकर उदय में आनेवाले तीव्र कषाय भावों को उपशमादि करने से आत्मबोध में बाधक दर्शनमोह की सात प्रकृतियों का उपशम होता है, तब मनुष्य को अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का बोध झाँकी दर्शन होता है। इसे यह बोध अल्प समय तक ही रहता है, इसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। मनुष्य को ऐसा आन्तरिक बोध एक बार हो जाने से उसका संसार भ्रमण सीमित हो जाता है। उन प्रकृतियों के फिर से उदय होने पर इनमें से सम्यक्त्व मोहनीय का क्षय करे तथा बाकी सातों को दबाये रखे तो उसे क्षयोपशम सम्यक्त्व हो जाता है। ऐसा जो आन्तरिक बोध न्यूनाधिक रूप से होता रहे, तो वह अधिक में पन्द्रह सोलह भव करता है।

जो मनुष्य इस बाधक शक्ति को हमेशा के लिये नाश कर

लिक स्वभाव का स्मरण रखते हुए, अपने विशुद्ध स्वरूप का पूर्ण विकाश करता है, ऐसा अपना लक्ष्य स्थिर करता है।

इस प्रकार अपने त्रिकालिक पारिणामिक स्वभाव को कर्म जन्य औदयिक विभावों से क्रमशः रहित करते हुए शुद्ध से शुद्धतर तथा शुद्धतम किया जा सकता है। ज्ञानी की ऐसी विचार धारा रहने कारण आगम में कहा है, कि – ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, तथा अज्ञानी का तप कर्म बन्ध का हेतु है। क्योंकि ज्ञानी उदयानुसार विषयादि भोग कर उन कर्मों से, विषयों से छूटना चाहता है अतः उसके निर्जरा होती है। किन्तु अज्ञानी तपश्चर्या के द्वारा देवादि के क्षणिक सुखों की कामना करता है, अतः उसे तप बंधन रूप होते हैं।

होत आसवा परिसवा, नहीं इनमें सन्देह।
मात्र दृष्टि की भूल है, भूल गये गत एह॥
—श्री राजचन्द्र

श्री सहजानन्द कृत—

विनती पद

हो प्रभु जी, मुझ भूल माफ करो।
नहीं हूँ योगी नहीं हूँ भोगी, तारो दास खरो। हो०।
नहीं हूँ रोगी नहीं हूँ निरोगी, मारी पीड हरो। हो०।
तुम गुण पागी सुरता जागी, नाथ हवे न्हाखो। हो०।
दर्शन दीजे ढील न कीजे, दिल नु दर्द हरो। हो०।
अमी रस क्यारी मुद्रा तारी, निशदिन नयन तरो। हो०।
थाके स्वामी मुझ उर मांही, सहजानन्द भरो। हो०।

२—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतराग भय क्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते ॥

गीता (२।५७) से ।

मनुष्य को क्षणिक सुखों मे अपना सुख न मानना तथा दुःख, भय, शोकादि में दुःख न मानना कर्तव्य है। उसे ऐसा मानसिक सयम करना होगा कि समस्त सांसारिक सुखों को निस्पृह होकर तथा समस्त दुःखों को अनुद्विग्न चित से सह सके ऐसे मानसिक सयम का आराधना करने से क्रमश उसकी वीतराग दशा प्रगट होगी।

३—सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः तत्त्वार्थसूत्र

भावार्थ—जीवादि तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा करना, उन्हें यथार्थतया जानना तथा तदनुकूल आचरण में स्थिरता ही मोक्ष मार्ग है।

अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को निश्चय से ऐसा मानना कि आत्मसत्ता म केवलज्ञान बीजरूप से रहा हुआ है तथा समस्त श्रुतज्ञान का आधार आत्मा है, ऐसी आन्तरिक श्रद्धा प्रतीति निश्चय सम्यग् दर्शन है, अपने चेतन ज्ञाता दृष्टा मात्र त्रिकालिक स्वभाव का अनुभव होना निश्चय से सम्यक् ज्ञान है तथा उस अनुभव ज्ञान मे समाधिस्थ रहना या शुक्लध्यान मे रमण करना ही निश्चय से सम्यक् चारित्र है। यह निश्चित मोक्ष-मार्ग है। ऐसे तीनों समताभाव म आन्तरिक श्रद्धा रखनेवाला

मनुष्य सम्यग्दृष्टि है। ऐसा सम्यग् दृष्टि मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति का दो घड़ी पर्यन्त सद् उपयोग करे तो उसे भाव से सामायिक व्रत, तथा दिन रात वैसी साधना करे तो पौषध व्रत कहते हैं। तथा जीवन पर्यन्त इस शुद्ध भावना मे प्रयत्न करना ही साधु जीवन-सच्ची अखण्ड साधना है। करेमि भंते पाठ पूर्वक दो घड़ी पर्यन्त एक आसन मे बैठकर स्वाध्याय जपादि करना द्रव्य से व्यवहार सामायिक है।

पूनीया श्रावक के ऐसे सामायिक का मूल्य बताते हुए, भगवान महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा था कि, तुमारे राज्य के सब धन से भी ऐसे सामायिक का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। तात्पर्य यह है कि निश्चय सामायिक से आत्मा को चिर शान्ति एव अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, तो धन से अशान्ति एव दुखदायी सुख।

भव्य जन। आपको कौन सा सुख प्रिय हो सकता है, इसका निर्णय आप स्वय करें।

> शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता मे केलि करे,
> शुद्धता मे स्थिर रहे, अमृतधारा वरसे।
>
> —श्री राजचन्द्र

इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्ता मे शक्ति रूपमे रहे हुए केवलज्ञानादि स्वरूपकी शुद्धता का विचार करते हैं, उसका ध्यान करते है तथा उसमें स्थिर रहते हैं, व अनुभव रूप अमृतधारा म स्नान कर पुलकित होते है, तथा विभोर होकर

सहजानन्द दशा में रमते हैं। कैसी अपूर्व शान्ति, कैसा अपूर्व आनन्द है, वर्णनातीत अवस्था है।

आतम भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे।

—श्री रामचन्द्र

सचेष्ट रहकर इस प्रकार आत्म भावना भाने वाला मनुष्य यथासमय अपने केवलज्ञान स्वभावको प्रगट करेगा, तथा जब तक उसे संसार में रहना पड़ेगा, वह सुखी रहेगा। जैसे धान्य के लिये खेती करने वाले किसान को घास फूँस मुफ्त में मिलता ही है।

श्री सहजानन्द कृत—

अनुपा प्रतीक पद

हंसा! तुझ समरण मुझ प्यारो, तुझ स्मरणे भव पारो॥हंसा॥
जाणे छे आबाल भावथी, खीर नीर व्यवहारो,
पय पात्रे जल भरने त्यागी, करे तू दुग्धाहारो॥ हंसा।
योगी जन तुझ रूप धरीने, छोडी सब जंजालो,
प्राण वाणी सम तुझ पद जपतां, करे जड़ चेतन फालो॥हंसा।
ज्ञान ज्योत प्रगटे घट अन्दर, वरसे अमृत धारा,
मन मयूर हर्षे अति नाचत, अनहद जीत नगारो॥ हंसा॥
गगने आसन दिव्य सुगन्धी, सिद्धि तणो नहीं पारो।
नेम छतां तमां नहीं अटके, सहजानन्द सवारो॥ हंसा॥

ॐ शान्ति

अहिंसा परमोधर्म

अहिंसा आठ प्रकार की है। जैसे —स्वरूपदया, अनुबंध दया, द्रव्यदया, भावदया, स्वदया, परदया, व्यवहारदया, निश्चयदया।

१ स्वरूपदया—करुणा बुद्धि से दीन दुःखी को भोजन, वस्त्रादि देना, रोगीको दवादि देना तथा बालकों की सत् शिक्षादि का प्रबन्ध करना।

२ अनुबंधदया—हित बुद्धि से गुरुजन का बालक को दण्ड देना तथा मंदिर, उपाश्रयादि बनाना।

३ द्रव्यदया—छ काय के जीवों के प्राणों की रक्षा करने की भावना। जैसे, अभयदानादि।

४ भावदया—सब जीवों को आत्म-कल्याण का सत्य मार्ग प्राप्त हो एसी भावना। इस भावना से मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म तक उपार्जन कर सकते हैं।

५ स्वदया—अपनी आत्मा की मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय से रक्षा करना, तीन शल्या को त्यागकर सर्वज्ञ भाषित धर्म का अनुष्ठान करना।

६ परदया—अन्य मनुष्यों को उपदेशादि के द्वारा स्वदया रूप धर्म का मार्ग बतला कर उन्हें धर्म में स्थिर करना पर दया है।

७ व्यवहार दया—शारीरिक, वाचिक, मानसिक सभी कार्य यत्नापूर्वक करना, जिससे छ काय के जीवों की हिंसा न हो तथा किसी को कष्ट न हो। पाँच समिति पूर्वक सब कार्य करना जैसे—इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आयाण भड निक्षेप समिति, पारिष्ठापनिका समिति।

८ निश्चय दया—आत्मा है। आत्मा नित्य है। वह ज्ञानादिका कर्ता है। सतचित् आनन्द का भोक्ता है। उसका मोक्ष है। मोक्ष का उपाय सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्र रूप समाधि है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति पूर्वक आत्म ध्यान मे शक्ल ध्यान मे स्थिति रहे उसे निश्चय दया कहते हैं। इससे सचित कर्मो की अधिकाधिक सकाम निर्जरा होती है। अत मे केवलज्ञान प्रगट होता है।

श्री राजचन्द्रकृत 'आत्मसिद्धि गुजराती' से हिन्दीसविस्तार

१ आत्मा है—जैसे—शरीर, घट, पटादि पदार्थ हैं, वैसे आत्मा भी है। जैसे शरीरादि अपने गुणों से प्रमाणित है वैसे ही आत्मा भी स्व पर प्रकाशक चेतन शक्ति प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित है।

२ आत्मा नित्य है—आत्मा त्रिकालिक द्रव्य है तथा स्वभाविक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा की उत्पति मे कोइ सयोग अनुभव मे नहीं आता। कोई भी सयोगी द्रव्य से चेतन सत्ता प्रगट होने योग्य नहीं, अत अनुत्पन्न है, असयोगी होने से अविनाशी है। क्योंकि जिसकी किसी सयोगसे उत्पति नहीं,

इसका किसी से नाश भी नहीं। अत आत्मा चेतन सत्ता की अपेक्षा से नित्य है।

३ आत्मा कर्ता है मव पदाथ अर्थ क्रिया सम्पन्न है। आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है, अत कर्ता है। श्री सर्वज्ञदेव ने व्यवहार की अपेक्षा से जीव को छ प्रकार कर्ता कहा है, तथा निश्चय परमाथ की अपेक्षा से मात्र केवल ज्ञानादि स्वभाव का कर्ता कहा है।

(१) अशुद्ध व्यवहार से—जीव भावकर्म मात्र का कर्ता है। जैसे—उसे शरीर मे पौद्गलिक पदार्थों म मोह ममता, राग द्वेष रूप विषम परिणाम होता है।

(२) अनुपचरित व्यवहार से—जीव आठ द्रव्य कर्मों का कर्ता है। वह कर्म फलस्वरूप मन,वचन कायादि का कर्ता है।

(३) उपचरित व्यवहार से—जीव स्त्री, पुत्र, धन, घर, नगरादि का कर्ता है।

(४) अशुभ व्यवहार से—जीव सरम्भ, समारभ, आरभ का कर्ता, १८ पाप स्थानक, १५ कर्मादानों का कर्ता तथा आर्त, रौद्र ध्यान का कर्ता है।

(५) शुभ व्यवहार से—जीव दान शील, तप, भाव का कर्ता तथा श्रावक के १२ व्रत या साधु के पच महाव्रतादि का कर्ता है। तथा धर्म ध्यान—आत्म ध्यान का कर्ता है।

(६) शुद्ध व्यवहार से—आत्मा सम्यग् दर्शन ज्ञान, ... णता ... तथा स्थिरता रूप तप म पुरुषार्थ

(१) भाव सामायिक सयम (२ छेदोपस्थाप्य सयम, (३) परिहार विशुद्धि सयम, (४) सूक्ष्म सम्पराय सयम, (५) यथाख्यात सयम, तथा शुक्ल ध्यान का कर्त्ता है।

अनादि काल से जीव अशुद्ध, असद्भूत, उपचरित तथा अशुभ व्यवहार करता आया है। फलस्वरूप ससार भ्रमण करता है। मनुष्य का मन चारों व्यवहार मे कर्त्तापन के अभिमान को त्याग कर क्रमश उदय मे आनेवाले कर्मों मे अव्यापक रह कर साक्षी रूप से वर्तना कर्त्तव्य है। क्यो कि उदयकाल मे साक्षी रूप मे रहने से बध हुए कर्म फल देकर नष्ट हो जायगे। तथा नये चारन कर्म न बधेगे। शुभ व्यवहार सीढी रूप हैं। सीढी, ऊपर चढने के लिये साधन मात्र होती है।

शुद्ध व्यवहार आत्मा का विकाश क्रम है, जिससे आत्मा शुद्ध से शुद्धतर अवस्था को (गुणस्थानक) प्राप्त कर अन्त मे अपने निश्चय स्वरूप केवल ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को प्रगट कर लेता है।

४—आत्मा भोक्ता है—जैसी जैसी क्रिया एव अध्यवसाय जीव करता है, वैसा वैसा फल वह भोगता है। जैसे—अशुभ भाव करने से पाप बधता है, फल स्वरूप दुख पाता है। शुभ भाव से पुण्य बधता है, फलस्वरूप सुख पाता है। वैसे ही कषायादि या अकषायादि जिस किसी अध्यवसाय मे वह रमता है, उसका वैसा ही फल उसे है।

५—आत्मा का

जीव को आठ कर्मों का कर्ता कहा, तथा कर्तापन होने से उसके फल को भोक्ता कहा। वैसे ही शुद्ध व्यवहार से क्रमश: चार घाति कर्म नष्ट होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। बाद में आयु आदि चार कर्मों के क्षय होने से जीव जन्म मरण से हमेशा के लिये मुक्त हो जाता है।

६—मोक्ष का उपाय—सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्ररूप समाधि से, सकामनिर्जरा से, आत्मध्यान से, शुक्लध्यान से जीव मुक्त होता है।

श्रीसर्वज्ञदेव ने इन छ पदों को सम्यग् दर्शन का मुख्य निवास स्थान कहा है। समीप मुक्तिगामी मनुष्य के सहज विचार में जीव के ये छ स्थानक सप्रमाण भासते हैं। आत्म स्वरूप को विस्तार से समझने के लिये तथा इनमें सन्देह रहित श्रद्धा करने के लिये ज्ञानी पुरुषों ने ऐसा वर्णन किया है।

अनादि मोहदशा—स्वप्नदशा से, उत्पन्न मनुष्य को अह-भाव, ममत्वभाव होने के कारण उसे स्वच्छंदता प्रिय है, उससे निवृत्त होने के लिये, आत्म स्वरूप के छ स्थानकों का निवेचन किया।

मोहदशा-स्वप्नदशा से रहित, चेतन लक्षण युक्त ज्ञाता दृष्टा मात्र निज आत्म स्वरूप है। ऐसी जिसकी परिणाम धारा हो, उसकी आत्मा जागृत होकर सहज में सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रकट करता है। तब किसी भी अशुद्ध, विनाशी, कल्पित भाव में उसे हर्ष, शोक, अपनापन नहीं होता। विनाशी

में उसे इष्टानिष्ट बुद्धि नहीं होती। रोग, शोक, जन्म जरा मृत्यु से परे अपने आत्म स्वरूप को जानता है, तथा अपने आत्म स्वरूप को विशुद्ध, सम्पूर्ण, अविनाशी, सहजानन्दी मानता है, वेदता है, तब कृतार्थ हो जाता है।

साराश—सर्वज्ञदेव के आज्ञानुसार जो सत् पुरुष हेय छोड़ने योग्य अध्यवसाय तथा काय, जैसे—अशुद्ध, अनुपचरित उपचरित तथा अशुभ व्यवहार को त्याग देते हैं, या त्यागने का प्रयत्न करते हैं, तथा उपादेय आदरने योग्य अध्यवसाय एव कार्य्य जैसे शुभव्यवहार-बाह्य चारित्र तथा शुद्ध व्यवहार एव अन्तर सयम करते हैं। वे सत् पुरुष यथासमय सब घाति कर्मों का नाश कर अपने केवल ज्ञान दर्शन स्वरूप को प्रगट करके तथा आयु आदि कर्मों के अत होने पर जन्म, जरा मृत्यु से तथा सब दुःखों से मुक्त होंगे।

श्रीदेवचन्द्र कृत—

समकित की सज्झाय

समकित नवि लह्यु रे, एता रल्यो चतुगति मांहे ॥सम०॥
त्रस स्थावर की करुणा कीनी, जीवन एक विराध्यो,
तीन काल सामायिक करता, शुद्ध उपयोग न साध्यो ॥सम०॥
झूठ न बोलवा को व्रत लीनो, चोरी नो पण त्यागी,
व्यवहारादिक महा निपुण भये, अन्तर्दृष्टि न जागी। सम० ॥
ऊर्ध्व बाहु कर उधे लटके, भस्मी लगा धूम गटके,
जटाजूट शिर मुंडे जूठे, विण श्रद्धा भव भटके। सम० ॥
निज पर नारी त्याग करके, ब्रह्मचर्य व्रत लीधो,
स्वर्गादिक याको फल पामी, निज कारज नवी सीध्यो। सम०॥
बाह्य क्रिया सब त्याग परिग्रह, द्रव्यलिंग धर लीनो,
देवचन्द्र कहे या विध तो हम, बहुत बार कर लीनो। सम० ॥

	मिथ्यादृष्टि मनुष्य का भाव।	व्य०सम्यगदृष्टि मनुष्यकाभाव	नि०सम्यगदृष्टि मनुष्यका भाव
१	रूपी पदार्थों मे, शरीरादि में मोह-ममता, तीव्र रागद्वेष होना	रूपी पदार्थों में, शरीरादिमे मोह ममता, मन्द राग द्वेष होना।	रूपी पदार्थों मं, शरीरादिमें मोह नहीं, अल्प राग द्वेष होना।
२	विद्या, धन, बलादिमे मद स्वाभिमान होना।	पच परमेष्ठिमें विनय भक्ति। धनादि मे अल्प अभिमान।	आत्मा-परमात्मा में समभाव। विद्या, धनादिमे अभिमान नहीं
३	धनादिमें मूर्छा-तीव्र लोभ होना	धनादि मे सीमित लोभ होना।	धनादिमें मध्यस्थभाव होना।
४	लोभवश माया, प्रपच करना।	जहां तक बने सरल जीवन।	सरल, निष्कपट जीवन।
५	बाधक व्यक्ति वस्तु, परिस्थिति में क्रोधादि भाव।	प्रतिकूलता में क्षमा रखना।	क्षमा भावमय जीवन।
६	फलस्वरूप रौद्रध्यान होना।	मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थ भाव रहना।	परमें इष्टानिष्टभाव नहीं होना
७	लोभवश आर्त ध्यान होना।	अनित्यादि १२ भावना करना।	कर्मों के उदय मे अव्याकुल।
८	शरीर म ही अपना अस्तित्व मानने की भूल के कारण सर्वज्ञ के आज्ञाकी उपेक्षा कर विषय सुखों की लालसा पूर्ति के लिये स्वच्छन्द जीवन बितानेवाला मनुष्य मिथ्या दृष्टि है।	सर्वज्ञ प्रवचन को पढना सद्गुरु से समझना, स्मरण, मनन करना, तथा सत्सग कर धर्म चर्चा करना। आत्महित के लिये धार्मिक—जीवनवाला मनुष्य व्यवहारसे सम्यगदृष्टि है	स० ज्ञान जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना। स० दर्शन शुद्ध आत्म स्वरूपपर श्रद्धा प्रतीति रहना। स० चारित्र—निज ज्ञानादि स्वभाव म रमण करना। स०तप—इच्छाओंको रोकना।

अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान-अनालोचना।

प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना

लेखक सद्गुरु श्री सहजानन्द।

१ अप्रतिक्रमण—अतीतकाल मा जो पर द्रव्यो नु ग्रहण कर्यु हतु तेमने वतमान मा सारा जाणवा, तेमना सत्कार रहेवा, तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवु, ते द्रव्य अप्रतिक्रमणछे। अने ते पर द्रव्यो ना निमित्ते जे रागादि भावो थया हता, तेमने वर्तमानमां भला जाणवा, तेमना सत्कार रहेवां तेमना प्रत्ये ममत्व रहेवु ते भाव अप्रतिक्रमण छे।

१—प्रतिक्रमण—पूर्वे लागेला दोषथी आत्मा ने पाछो वालवो तेने प्रतिक्रमण कहे छे।

२—अप्रत्याख्यान—भविष्यकाल सम्बंधी परद्रव्यो नी वांछा राखवी ममत्व राखवु ते द्रव्य अप्रत्याख्यान छे। अने ते पर द्रव्याना निमित्ते भावि मा थनारा जे रागादि भावो, तेमनी वाछा राखवी, ममत्व राखवु ते भाव अप्रत्याख्यान छे।

(२) प्रत्याख्यान—भविष्य मा दोष लगाडवानो त्याग करवो ते प्रत्याख्यान छे।

(३) अनालोचना—वर्तमान मा जे पर द्रव्यो ग्रहण पणे वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राखवु, ते द्रव्य अनालोचना छे। अनेते पर द्रव्यो ना निमित्त जे रागादि भावो वतमान मां वर्ते छे, तेमने सारा जाणवा तेमना प्रत्ये ममत्व राख्वु ते भाव अनालोचना छे।

३ आलोचना—वर्तमान ना दोष थी आत्मा ने जुदो राखवो, करवो ते आलोचना छे। त्रणकाल ना दोषो थी आत्मा ने अलग राखवो, तेज प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छे। मात्र मिच्छामि दुक्कडम् बोली जवु ते प्रतिक्रमण न कहेवाय। वर्तमान मा उदयेपणे वर्त्तता समस्त प्रसगो मा साक्षी भावे रहेतां, त्रणेकाल सम्बन्धी दोषो उत्पन्न न थाय, आत्मा अदोषज रहे। आवु अन्तेष जीवन जीवु होयते आत्मान प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान अने आलोचना छ। वर्तमान परिस्थिति नो साक्षी भावे उपयोग करे, तेने ज्ञानी कहेवाय। तेथी उल्टु विषयादि सेवी ने दुरुपयोग कर ते अज्ञानी कहेवाय। प्रत्येक प्रसग पूर्व कर्मानुसार ज पोतानां वावेला बीज अनुसारज, अनुकूल के प्रतिकूल पणे आवे छे तो पछी तेमां विषम रहेवु शा माटे? जेम—

१—भगवान महावीरना जीव वासुदेव ना भव मां शय्या-पालक ना दोषनी क्षमा आपी होत, साक्षी भावे रह्या होत, तो छेल्ला भव मा कान मां खीला न ठोकाणा होत।

२—जेम के वर्तमान मां राजतिलक नी तयारी छे। त्या एकदम श्री रामचन्द्रजी ने वनवास उदय आव्या, जेने समता थी वधावी लेता, भूतकाल ना कर्मो वर्तमान मां भोगवाई गई, भावि ससार ना बीज न थया। जो राज नो लोभ सेव्यो होत तो नवो ससार तैयार थात, अने मुक्त न थया होत।

ॐ सहजानन्द

अष्टाङ्ग योगपर आत्मिक दृष्टि

लेखक—सद्गुरु, श्री सहजानन्द ।

आत्म प्रतीति विना, आत्म ध्यान नो सभव नथी। आत्म प्रतीति माटे योग मार्ग नु आचरण कार्यकारी छे।

'दृष्टि अने दृष्टानु अभेद थई जवु ते योग छे'। हठ ने राज ए बे मुख्य भेदो योग ना कहवाय छे। हठयोग प्रयत्न परक, अने राजयोग सहज अप्रयास छे। (१) यम (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, आचारे अगोनां समूहने हठयोग कहे छे। यम—पच महाव्रतनी इच्छा, प्रवृति, स्थिति अने सिद्धि वड़ बाह्य वृतियों नु नियमन ते यम। अतरग वृतियो नु नियमन ते नियम छे। देहाध्यासनु नियमन ते आसन छे। अने भाव प्राणो नु नियमन ते प्राणायाम छे। आत्मध्याननु आ हठयोग निमित्त कारण छे। अने राजयोग उपादान कारण छे—

(१) प्रत्याहार, (२) धारणा, (३) ध्यान, (४) समाधि, आचारे अग परक राजयोग छे—प्रत्याहार—चित्तवृति प्रवाह नु निज उद्गम स्थान आत्माभिमुख थवु ते प्रत्याहार, जेम—

मच्छ वेध साधकपरे, सामेपूर तराय।
जाणनार जोणार मां सुरता एम लराय ॥

चित्तवृति प्रवाहनु आत्मा मां मली रहवु, ते धारणा छे। आत्मानी आत्मभावे स्थिरता ते ध्यान छे। आत्मानु अव्याबाध समाधान ते समाधि छे। आत्मीय उपादान कारणनु कार्यरूपे परिणमन ते मुक्ति।

निज सत्ते एकत्वता, वद्ये अव्यापक भाव।
ज्ञाता दृष्टा साक्षीये, उपजे मोक्ष स्वभाव॥

आ अष्टांग योग गुरुगमे समजवा योग्य छे। हठयोग वड प्राप्त थती पात्रता भक्तिमार्ग थी अनायास मळे छे। जेथी भक्ति मार्ग, ए राज मार्ग माँ प्रवेशी ने अगम सेवा आत्मध्यान नो सुगम उपाय छे। जे आबाल गोपाल वड़े सु साध्य छे।

'आत्म ध्यान, अध्यात्मज्ञान समो शिव साधन और न कोई।

श्री सहजानन्दकृत—

भाव दीवाली पद

दिलमाँ दिवडो थाय, स्व पर समभाय,
विभावने टाळी, हूँ उजवुं पर्व दीवाळी। दिलमा ॥१॥
अस्तित्व गुणे हूँ आत्म प्रभु,
शुद्ध स्व पर प्रकाशक ज्ञान विभु।
मन वच काया थी जुदो, कर्म संग टाळी। हूँ उजवु ॥२॥
नित्यत्व गुणे हू अविनाशी,
निर्मळ चिन्मय निजगुण राशि।
अकृत्रिम सहज स्वरूपी, अखंड त्रिकाली। हूँ उजवु ॥३॥
छुँ शुद्ध बुद्ध सुखधाम सदा,
हूँ स्वय ज्योति परिमुक्त अहा।
सहजानन्द कर्त्ता भोक्ता स्वरूप सभाळी। हूँ उजवु ॥४॥
ॐ सहजानन्द

नव तत्त्व, छः द्रव्य

द्रव्य ६ हैं वे ऐसे, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं काल। तत्त्व ९ हैं, जैसे, जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व, ये नवतत्त्व हैं।

१—जीवतत्त्व

१—जीव का लक्षण चेतना है। उसका स्वभाव दर्शन ज्ञान उपयोग है। इस भाव प्राणरूप स्वाभाविक शक्ति से जीव त्रिकाल जीवित रहता है। जीव असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। संख्या में, अनतानन्त जीव लोकाकाश में है। जीव के और पाँच भाव होते हैं जैसे (१) पारिणामिक स्वभाव, यह जीव में सर्वदा रहता है। (२) औदयिक विभाव, यह जीव में संसारी अवस्था में रहता है। यह विभाव कर्मों के संयोग से जीव में होता है, तथा उसके पारिणामिक स्वभाव में दूध में पानी की तरह मिला रहता है। (३) क्षायोपशमिक भाव-जीव के कर्मोदय के समय उसे फल देकर कुछ कर्म नाश हो जाते हैं तथा कुछ दबे रह जाते हैं, उसे क्षय-उपशम भाव कहते हैं। जीव में संसारी अवस्था में सर्वत्र केवलज्ञान होने से पहले रहता है। (४) औपशमिक भाव या (५) क्षायिक भाव, ये भाव जीव को सम्यग् दर्शन के पहले नहीं होते हैं, इन सब भावों को जीव के भाव प्राण कहते हैं।

जीव के द्रव्य प्राण दस तक हो सकते हैं, जैसे कान, आँख,

नाक, जीभ, त्वचा ये पाँच इन्द्रियाँ, मनबल वचनबल, कायाबल श्वांस, तथा आयु, एव कम से-कम चार होते हैं शरीर, श्वास, आयु कायबल। इनके आधार से जीव ससार भ्रमण करता है। जीव के दो भेद हैं, पहला ससारी जीव वह है जो आठ कर्मों के सयोग से जन्म मरण करता है। ससारी जीवो के ८४, या विस्तार से ५६३ भेद है। जैसे, क्षेत्र की अपेक्षा से मनुष्य के ३०३ भेद हैं। चार निकाय के देवो के १६८ भेद हैं। सात नरक के १४ तथा तीर्यंच गति के जीवों के ४८ भेद हैं। विस्तार से जानना हो तो तत्त्वार्थ सूत्र देखें।

जीव क्या है, प्रत्येक जीव अष्ट कर्मों का क्ता है। अपने शुभाशुभ कर्मानुसार ऊँचीसे ऊंची स्थिति जैसे इन्द्रादि, नीची स्थिति जैसे, नरक या कीट पतगादि से निगोद तक समझें। अत इसे अपना ईश्वर बनाने बिगाडने वाला भी कह सकते हैं। यह सब जीव का विभाव मे कर्तापन है। जीव जब अपने ज्ञानादि स्वभाव मात्र का कर्त्ता होता है, तब केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। तब वह अपने ज्ञानादि ऐश्वर्यवाला है अत इसे ईश्वर कहा जा सकता है।

दूसरे मुक्त जीव है जो सब कर्मो को नाश करके अपने केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनत रमणता, अनन्त स्थिरता गुणोंमें तथा परमानन्द, अजरामर, निरजन निराकार निर्विकार, अगुरुलघु पर्याय मे लोक के अन्त मे स्थित हैं। वे सर्वदा वैसे ही रहेंगे, ऐसे सिद्ध जीव अनन्त है। इनके विशुद्ध पारिणामिक, क्षायिक भाव होते हैं।

२—अजीवतत्त्व

२—अजीव तत्त्व का लक्षण जड़ता है, इसके पाँच भेद हैं। जैसे, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल।

(१) पुद्गलास्तिकाय—(Matter) अजीव-जड़ हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप है, मिलने-बिखरने रूप क्षणिक स्वभावी द्रव्य है। इसके चार भेद हैं, स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु। पुद्गल स्कन्ध जीवों से अनतानन्त है, परमाणु उनसे अनतानन्त पुरुषाकार लोकाकाश में ठसाठस भरे पड़े है। परमाणु का विभाग या नाश नहीं होता है, किन्तु स्कन्ध, देश, प्रदेशों का प्रति समय विनाश याने इनके रूपों, रसों, गन्धों, स्पर्शों में परिवर्त्तन हो रहा हैं। इस क्षण स्थायी स्वभाव के कारण जगत के दृश्यमान पदार्थों में—दिखनेवाले सभी वस्तुओं में रूप से रूपान्तर हो रहें हैं। क्योंकि तमाम रूपी पदार्थ इन पुद्गलों से ही बने है, इसलिये विनाशी हैं। अत इनके क्षणिक सुन्दरता में मोहित होकर मनुष्य को फसना न चाहिये।

(२) आकाशास्तिकाय—(Space) जिसमें जीव तथा पुद्गलादि पाँचों रहते है, उसे अवकाश आकाश कहते हैं। यह लोकालोकव्यापी, एक त्रिकालिक अरूपी द्रव्य है। यह अनन्त प्रदेशी, जड, अजीव द्रव्य है। इसके मध्यम असख्य प्रदेशी लोकाकाश पुरुषाकार १४ रज्जुप्रमाण हैं, जिसमें चार गति जैसे देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति के चौरासी

लाख जीवायोनियों के जीव अपने-अपने कर्मानुसार जन्मते मरते, जन्मने रूप धारा प्रवाह मे बह रहे हैं, तथा पुद्गलो से भी लोक ठसाठस भरा है, पुद्गल परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि आँख से नहीं दिखते।

(३) धर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की गति मे सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड एवं अजीव द्रव्य है।

(४) अधर्मास्तिकाय—जो शक्ति जीवों तथा पुद्गलों की स्थिरता म सहायक है। वह लोकाकाश व्यापी, असख्य प्रदेशी, त्रिकालिक, जड, एव अजीव द्रव्य है।

(५) काल—जो पाचो द्रव्यों के परिवर्तन मे सहायक है। वह मात्र वर्तमान काल है, भूतकाल तथा भविष्य काल उपचार से कहे जाते हैं।

जणाय ने देखाय जे, तेमां लक्ष न आप,
जाणनार जोनार मां, चेतन ! था थिरथाप। १।
जणाय ने देखाय जे, ते तो पर जड रूप,
जाणनार जोनार तु, सहजानन्द घन भूप। २।
देव गुरु धर्म तुज, तू ध्याता ध्येय ने ध्यान,
देह देवलथी भिन्न छे, एम एडग ने ध्यान। ३।
पर जड लक्ष्य अभ्यासथी, जन्म मरण दुख थाय,
आप आपना ध्यान थी, जन्म मरण दुख जाय। ४।
माटे तज पर लक्ष्यने, कर निज लक्ष्य अभ्यास,
प्राण जाणी रमतां मली, सहजानन्द विलास। ५।

ॐ सहजानन्द।

पाप तत्त्व, पुण्य तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन

३—पाप—जीव की अशुभ भावनाओं से, आर्तध्यान, रौद्र ध्यान से तथा अशुभ क्रियाओं, जैसे १८, पापस्थानक सेवन, १५, कर्मादाना से जीव के असंख्य प्रदेशों में पाप प्रकृतियाँ बधती हैं। यह उसे असाता रूप दुःख है। इसका स्वाद जीव का कड़वा लगता है। जीव को पाप के फल ८२ प्रकार से भोगने पड़ते हैं।

४—पुण्य—जीव का शुभ भावनाओं से, धर्मध्यान से, तथा शुभ क्रियाओं जैसे, पंच परमेष्ठि का नमस्कारादि से, दया, दान, शील, तप, भावसे सदाचार सतोष से, व्रतादि से साता रूप वेदनीयादि कर्मों का संयोग जीव के प्रदेशों में होता है, उसे पुण्य कहते हैं। उसका फल जीव को मीठा लगता है, अतः उसे वह सुख कहता है। जीव नौ प्रकार से पुण्य प्रकृति बांधता है, ४२ प्रकार से उसके मीठे फलों को भोगता है। जीव के वचन, काया की क्रिया शुभ हो किन्तु उसके मन के विचार अशुभ हो तो पाप बंधता है।

विवेचन—पाप, पुण्य जीव के अशुभ या शुभ अध्यवसाय का नाम है। जब जीव नीतिसे, धर्मसे अच्छे काम करता है, उसे पुण्य कर्म, तथा अनीतिसे धर्म विरुद्ध कार्य करता है, उसे पाप कर्म कहते हैं। अतः मनुष्यों को अपने बुरे कार्यों का निरीक्षण करके क्रमशः उन्हें अपने जीवन से बहार निकाल देना कर्तव्य है। उन बुरे कार्यों का मूल कारण विषय लोलुपता,

धन लिप्सा, हिंसावृत्ति आदि इनकी अशुभ भावनाएँ हैं। अत उनके फलाफल को विचार कर इन भावनाओं को दिल दिमाग से निकाल देना जरूरी है। क्योंकि बुरे कार्य का फल बुरा, अच्छे कार्य का फल अच्छा होता है। अत विवेकी मनुष्य का कर्तव्य होता है कि, जो भी करे समझ कर विचार पूर्वक करे।

आश्रव तत्त्व, संवर तत्त्व का तुलनात्मक विवेचन

मनके बाधक, साधक अवस्थाओं का विस्तार से समझने के लिये कर्म बंध के कारण रूप आश्रव भावों एवं कर्म न बंधने रूप संवर भावों का विवेचन करते हैं।

१–मिथ्यात्व रूप आश्रव भाव

अनादि काल से जीव मोह ममता से शरीरादि को ही स्वयं समझने की भूल कर रहा है। इस 'भूल' बड़ी भूल के कारण ही मनुष्य की विभाव दशा है। इसे ही अनगृहित अनादि मिथ्यात्व कहते हैं। अत प्रथम इस भूल का सुधारना परमावश्यक है। मिथ्यामति देव, गुरु धर्म, शास्त्र का आत्म कल्याण करनेवाला मानना यह गृहित मिथ्यात्व है। भव्य जन को देव गुरु धर्म रूप से इन्हें न मानना चाहिये।

१—सम्यक्त्वरूप संवरभाव

मैं, शरीरादि से अलग चेतन लक्षण—दर्शन ज्ञान उपयोग स्वभाव वाला आत्मा हूँ। जैसे, दूधमें घी, तिल में तेल अलग है, वैसे ही मैं आत्मा शरीर रूप पींजड़े में अलग हूँ। तथा मेरा सम्यग दर्शन ज्ञान चारित्र स्थिरता एवं पहितवीर्य –

आत्म शक्ति ही मोक्ष मार्ग है। ऐसा निश्चितभाव, आन्तरिक श्रद्धा होना, भावसे निश्चय सम्यग दर्शन है। भगवान महावीरादि को आराध्यदेव स्वरूप मानना। उनकी वाणी के मर्म को समझ मोक्ष साधना पथ का अनुसरण करने वाले पंचमहाव्रतधारी साधको सद्गुरु मानना। उनकी अमृत तुल्य वाणी के अनुकूल अनुसरण का सत्धर्म मानना, तथा हितोपदेश से ओतप्रोत उनकी स्याद्वाद वाणी द्वादशांगी को सत्शास्त्र मानना, श्रद्धा करने रूप भाव जीव का, द्रव्य से व्यवहार सम्यग् दर्शन है।

२—अविरतिरूप आश्रव भाव

जीवका संसार, परिवार, शरीरमें तथा पंच इन्द्रियों के तेइस विषयोंसे रुचि होना, कामना वासना में निज सुखमानना यह भाव से अविरति है। अन्य आत्मा को इनमें आसक्त होने से बचना कर्तव्य है। इन वासनाओं में जीव का मन वचन काया के द्वारा आचरण करना, तथा हिंसा करना, बेईमानी, झूठ, चोरी, मैथुन सेवा, परिग्रह संचय में आरंभ समारंभ करनेको द्रव्यसे अविरति कहते हैं।

२—विरतिरूप संवर

जीव का पौद्ग[illegible] [illegible] सर्वों [illegible]
रुचि न होना, निस्पृ[illegible]
[illegible]

संयम, तथा यथा-ख्यात संयम पालेगा तब अपने सत्ता में रहे केवल ज्ञान स्वरूप को व्यक्त-प्रकट कर सकेगा। यह भाव से निश्चय विरति है। उत्तम अहिंसा, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, तपश्चर्या, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता, पंच समिति पालना, तीन गुप्ति का अभ्यास, २२ परिषहों को सहना, यह सब साधु जीवन है, यह सब द्रव्य से (मन, वचन, काया) व्यवहार चारित्र हैं। साधु जीवन की भावना करनी चाहिये। तथा श्रावकों के आंशिक १२ व्रत द्रव्य से, व्यवहार विरति है।

३—प्रमाद रूप आश्रव भाव

मनुष्य को अपने चेतन स्वरूप का भान न रहना, भाव से प्रमतदशा है। इन्द्रिय-विषय, आलस, निद्रा, विकथा जैसे राज, देश चर्चा, स्त्री, भोजन चर्चा करना द्रव्य से प्रमाद दशा है। अतः मनुष्य को अपने आत्म स्वरूप का उपयोग हमेशा रखना कर्तव्य है, जैसे, पनिहारिन घड़ों में, तथा मोटर चालक सामने रास्ते में ध्यान रख कर बात चीत आदि करता है। वैसे ही उसे सब कार्य करते समय अपने आत्म स्वरूप का ख्याल रखना कर्तव्य है।

३—अप्रमत्त दशा रूप संवर भाव

विषय, आलस्य, निद्रा, विकथा को त्याग कर मनुष्य आत्म धर्म साधन में मन वचन काया के द्वारा आचरण करता है, वह द्रव्य से अप्रमत्त दशा है। तथा मैं ज्ञाता दृष्टा मात्र चेतन शक्ति हु,

थत निज सत्ता में शक्तिरूप से रहे निर्विकल्पदशा एव केवल ज्ञान स्वरूप के ध्यान मे स्थिरता करना, निमग्न रहना तथा शुक्ल ध्यान ध्याना भाव से अप्रमत्त दशा है।

४—कषाय भाव रूप आश्रव भाव

जिन विषम भावों से जीव पीड़ित हो उसे कषाय कहते हैं। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, इन चारों का मुख्य कारण जीव के कषाय युक्त अध्यावसायोंकी तारतम्यता ही है। कषायों के तारतम्य भाव को मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त किया गया है। जैसे,

पहला अनतानुबन्धी कषाय

जीव के तीव्रतम क्रोध मान (द्वेष), माया लोभ (राग), रूप परिणामों को कहते हैं। जैसे पत्थर पर की लकीर का अस्तित्व एक लम्बे असेंतक रहता है, वैसे ही इस कषाय का अस्तित्व समझें। इन कषायों के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि बना रहता है। अत उग्र कषायों के उदय मे मनुष्य को शान्त रह कर उस कषाय को उपशम करना अत्यावश्यक है।

दूसरा अप्रत्याख्यानी कषाय

जीव के तीव्र क्रोध मान, माया लोभ, रूप परिणामों को कहते हैं। जैसे, गीली मिट्टी पर की हुई लकीर सुखने पर उसका अस्तित्व कुछ दिनों तक रहता है, वैसे ही इसका अस्तित्व समझें। इनके उदय से जीव आंशिक १२ व्रतों को ग्रहण नहीं कर सकता।

तीसरा प्रत्याख्यानी कषाय

जीव के अल्प क्रोध मान माया लोभ रूप परिणाम को कहते हैं। जैसे, रेत पर की लकीर का अस्तित्व कुछ समय तक रहता है, वैसे ही इसका अस्तित्व समझें। इसके उदय से जीव साधु जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता है।

चौथा सज्वलन कषाय

जीव के अल्पतर क्रोध मान, माया लोभ रूप परिणाम को कहते हैं। जैसे, पानी की लकीर का अस्तित्व क्षण भर में मिट जाता है, वैसे ही इस कषाय का अस्तित्व मिट जाता है। इसके उदय से मनुष्य यथाख्यात चारित्र प्राप्त न कर सकने से केवल ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है।

४—समता भाव रूप जीव का सवर भाव

(१) जगत् के सब जीवों की आत्मा को अपनी आत्मा के तुल्य मानना। (२) कल्पित सुख दुःख में सम भाव रखना। (३) सम्यग् दर्शन ज्ञान चरित्र में स्थिरता रूप भाव—समता भाव है।

५—जीव का योग रूप आश्रव द्वार

जीव के द्रव्य प्राण रूप मन, वचन, काया को योग कहते हैं। मन दो प्रकार का है। (१) जीव के मोह राग, द्वेष रूप परिणाम को भाव मन कहते हैं। मति ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशमरूप यह मन जीव के ससार अवस्था मे तारतम्य रूप से सर्वदा बारहवें गुणस्थानक तक रहता है। (२) जीव

को विश्वास तथा विचार करने में उपयोगी मनोवर्गणा का द्रव्य मन कहते हैं। यह सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के ही होता है। वचन तीन प्रकार का है, जैसे, सवज्ञ के स्यादूवाद रूप प्रवचन, अल्प ज्ञानी के एकान्त वाद रूप वचन तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पचन्द्रिय, जीवों के शब्द रूप वचन। काया पांच प्रकार की है, जैसे, तैजस्, कार्मण, औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर है।

जीव का तेजस् शरीर पुद्‌गल रूप आहार को हजम कर शरीर बनाने मे सहायक होता है। जीव की ससारी अवस्था मे सर्वदा रहता है।

जीव का कामण शरीर—आठ द्रव्य कम रूप पुद्‌गल वर्गणा के समूह को कहते है। यह भी जीव की ससारी अवस्था में सवदा रहता है। किन्तु मोहनीयादि चार घाति कर्मों के समूल नष्ट होने से केवल ज्ञान होता है।

औदारिक शरीर—मनुष्य और पशु पक्षी आदि तिर्यंच गति के जीवों के औदारिक शरीर होता है। जो दृश्यमान शरीर है, उसे औदारिक शरीर कहते हैं।

वैक्रिय शरीर—देवगति, नरक गति के जीवो के वैक्रिय शरीर होता है।

आहारक शरीर—चौदह पूर्व का ज्ञान वाले मुनियों के आहारक शरीर बनाने की लब्धि होती है।

रस बन्ध—जीव के कषाय युक्त भाव में छ लेश्या की जैसे कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्या, तथा तेज, पद्म, शुक्ल शुभ लेश्या की तारतम्यता से उन कर्म प्रकृतियों में शक्ति रसबन्ध होता है।

प्रदेशबन्ध—जीव के कायादि योग की क्रिया से उसके आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर बाकी सब प्रदेशों में आठ कर्मों का दूध व पानी की तरह जो मेल होता है, उसे प्रदेश बन्ध कहते हैं।

निर्जरा तत्त्व,

८ निर्जरा—जीव के कर्मों से आंशिक छुटने को निर्जरा कहते हैं। अकाम, तथा सकाम निर्जरा दो प्रकार की है। प्रति समय जीव जिन कर्मों के उदय से सुख दुःख भोगता है, वे कर्म फल देकर अलग होते जाते हैं, उस अकाम निर्जरा को निर्जरा तत्त्व न समझें। मनुष्य सांसारिक इच्छाओं का रोक कर जब आत्म शुद्धि के लिये छ बाह्य तप जैसे (१) अनशन—चौविहार उपवास, (२) ऊणोदरी आम्बिलादि, (३) वृत्ति संक्षेप, (४) रसत्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता। तथा छ आभ्यन्तर तप जैसे—१ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावच्च, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान, ६ कायोत्सर्ग करता है, तब तथा आत्म ध्यान से, शुक्ल ध्यान से—सकाम निर्जरा होती है। सकामका अर्थ है कि आत्म शुद्धि के लिये तप, ध्यानरूप साधना करना। १२ भावनाएँ, धर्म ध्यानादि का आगे वर्णन करेंगे।

मोक्ष तत्व

आठो कर्मों को क्षय कर जो आत्मा सिद्ध, शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा परमानन्द, अजरामर, निरंजन, निराकार, निर्विकार स्वरूप धनकर लोक के अंत में ऊपर सर्वदा स्थित रहते हैं। उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

साराश—इन नौ तत्व एवं ६ द्रव्य के स्वरूप को यथार्थतया जानना सम्यग् ज्ञान, उन पर पूर्ण श्रद्धा को सम्यग् दर्शन कहते हैं। अजीव—पुद्गल, पाप, आस्रव, बन्ध का हेय, अन्तमें पुण्य का भी हेय, छोड़ने योग्य समझना तथा आत्मा को उनके प्रभाव से बचाने के लिये जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष को उपादेय समझ कर, आस्रव आदि के द्वारा आते हुए कर्मों को संवर के द्वारा रोकना, तथा बन्धे हुए कर्मों की सकाम निर्जरा के द्वारा क्षय करते रहना ही सम्यग् चारित्र, तथा ऐसे प्रयत्न में स्थिरता ही सम्यग् तप है। तथा इस तरह के पुरुषार्थ (पंडित वीर्य) के द्वारा सब कर्मों के मूल से नाश होने पर मनुष्य सब दु खों से, जन्म, जरा, मृत्यु से, मुक्त हो जाता है। तथा अपने सिद्धात्मा के विशुद्ध परमानन्द स्वरूप को व्यक्त प्रगट कर लेता है, वह मोक्ष-तत्व है। इस प्रकार जीव-आत्मा बीच के सब तत्त्वों के बन्धन से मुक्त होकर सवदा के लिये मोक्षमय (स्वतन्त्र) हो जाता है।

तहिन तुमने तत्व प्रबोधे निश्चय ने व्यवहारे। चेतन ॥१॥
ज्ञेय विचारी हेय ने छंडी, उपादेय स्वीकारे। चेतन ॥२॥
निज पर द्रव्य निश्चय करवा, ज्ञान चरण उर धारे। चेतन ॥३॥
निज निज लक्ष्य एकत्वे प्रगट, सहजानन्द घन भारे। चेतन ॥४॥

ॐ नम

जीव के आठ कर्मोंका निरण एव उनके बन्धका निवेचन

श्री उमास्वाति कृत तत्त्वाथ सूत्र के आधार से।

आठ कर्म—आठ कर्म म से चार कर्म जो जीवके ज्ञानादि मूल गुणों को रोकते या आवरण करते है, उन्हे घातिकम कहते हैं। वे है—ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरणकर्म, मोहनीय कर्म, अत राय कर्म। और चार कर्म जो जीवके सिद्धावस्थामें तो बाधक है, किन्तु उसके केवल ज्ञानादि में बाधक न होनेसे अघातिकर्म कहलाते हैं। वे हैं—वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकम, गोत्रकम।

जीवकी मनोवृत्ति केअनुसार उसके विभावरूप इन आठ कर्मों के तारतम्य रूपसे—बध होते है, उसे प्रकृति बध कहते है। जीवके तरतम कषाय भावानुसार प्रकृति बधम अमुक समय तक की स्थिति को स्थिति बध कहते हैं।

जीवके तरतम कषाय मे शुभाशुभ लेश्या की तारतम्यता से प्रकृति बध मे शुभाशुभ फल देन की शक्ति को रस बध कहते है। जीवके मन, वचन, काया की क्रियासे आकर्षित होकर कर्म वर्गणाएँ उसके आत्म प्रदेशों म बध जाती है, उसे प्रदेश बध कहते है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिये छ कर्मग्रन्थादि का अध्ययन करना उचित है।

जीव को अपनी आत्मा का सम्यग् बोध होने मे बाधक कारणोमे दर्शन मोहनीयकम की मुख्यता है अत पहले मोहनीय का वर्णन करेंगे।

१ मोहनीय कर्म

दो प्रकार के हैं—दर्शन मोहनीय कम तथा चारित्र मोहनीय कर्म।

(१) दर्शन मोहनीकर्म—जीव को आत्म-बोध नहीं होने देता, उसके सात भेद हैं—अनतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय। इन सात कर्मों के उदय काल म जीव मिथ्या दृष्टि रहनेसे वह प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थानक म हैं। इन कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, एव क्षय करने से जीव सम्यग् दृष्टि बनता है, तब उसे चौथा गुण-स्थानक प्राप्त होता है।

दर्शन मोहनीय कर्म-बधमे मुख्य कारण यह है कि—अनादि तीव्रतर कषायोदय से जीव का मिथ्या-भाव, परमे मोह अपनापन है (जिससे उसके प्रति समय आयु को छोड कर बाकी सातों कर्म बधते हैं) अथवा मोह भ्रमवश वह अर्हन्त भगवान् में, उनके श्रुत—शास्त्र मे, चतुर्विध सघमे, मोक्ष साधन रूपधर्म मे अविश्वास करता है, उन्हें मिथ्या, या व्यर्थ समझता है, अथवा इनकी निन्दा करता है, ऐसे अध्यवसायों से जीव के विशेषरूप से दर्शन मोह-कर्म बध होता है।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म—जीव को अपने ज्ञानादि गुणोंमे रमण नहीं करने देता। उसके २१ भेद है,—अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ,। प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, म

लोभ। सज्वलन क्रोध मान, माया, लोभ, ये बारह कषाय तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद, ये नौ कषाय, दोनों मिलाकर २१ भेद चारित्र मोहनीय कर्म के हुए।

इस कर्म बन्ध मे मुख्य कारण यह है, कि—रूपी पदार्थों मे ममत्व के कारण जीव को उनसे सयोग की लालसा रहती है। सयोग होने पर उनके क्षणिक सुख मे आन्तरिक रुचि आसक्ति होने से उसके चारित्र मोह का विशेष रूप से बध होता है। तथा सातों कर्मों का बध प्रति समय होता है। अथवा मिथ्या दर्शन के प्रभाव से वह अरिहन्त भगवान् की, उनके धर्म मार्ग की, या धर्मके साधनों की उपेक्षा या उनसे घृणा करता है, अथवा भावा वेश में उन्हें नष्ट करता या हानि पहुचाता है। व्रती पुरुषों को व्रत पालने मे बाधा देता है। मासादि खाने का प्रचार करता है। ऐसे महा अनर्थ कारी कार्य करने से जीव के क्षण भर मे भयकर कर्म बन्धते हैं, और विशेष रूपसे चारित्र मोहनीय कर्म बन्ध होता है। जो भव भव मे भोगते भोगते मुश्किल से छूटता है। इस पर गोशालक के एसे जीवन के फल स्वरूप उसके ससार भ्रमण का वृत्तांत भगवती सूत्र से जानना चाहिये। आत्महित के लिये मनुष्य को सवधानी रख इनसे बचना चाहिये।

२ ज्ञानावरण कर्म

जीव को वस्तु स्थिति का ज्ञान होने मे बाधक है, वे पांच

प्रकार के हैं,—मतिज्ञानावरण, श्रुत-ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मन पर्यय ज्ञानावरण, केवल ज्ञानावरण।

३ दर्शनावरण कर्म

जीव को वस्तुस्थिति का सामान्यबोध। (दर्शन) में बाधक है। वे नौ प्रकार हैं, चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण अवधि-दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला स्त्यानगृद्धि वेदनीय।

ज्ञानावरण कर्म के बंध में मुख्य कारण जीव की अज्ञान दशा है। अत: अज्ञानवश वह ज्ञान, ज्ञानवान्, ज्ञान के साधनों की उपेक्षा करता है, उन्हें छिपाता है, उनसे ईर्ष्या-द्वेष करता है, उनसे अन्य किसी को वंचित या अन्तराय करता है। ज्ञानादि के प्रसार का विरोध कर रोक देता है, तथा प्रशस्त ज्ञान में भी दूषण लगाता है, उप घात करता है। ऐसे कार्यों से ज्ञानावरण कर्म का विशेष रूप से निकाचित बंध होता है। दर्शनावरण कर्म के बंध में भी वे ही सब कारण हैं, किन्तु इस में दर्शन शास्त्र की, जिनेन्द्र भगवान की, दर्शन के साधन मन्दिर, उपाश्रयादि की उपेक्षा, विराधादि करने से दर्शनावरण कर्म का निकाचित बन्ध होता है। ऐसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म बंध से जीव अनेक भवों तक अज्ञानी बना रहता है।

४ अंतराय कर्म

जीवको दान, लाभादि में बाधा देता है, वे पांच प्रकार हैं। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय। दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, पांचों

भिन्न दृष्टि कोण से विचार करने से इनका यथार्थ ज्ञान होगा।

जैसे, आत्मिक दृष्टि से दान का अर्थ साधु के लिये यतनासे व्यवहार करना तथा सर्वज्ञ के वचनानुसार उपदेश देना है। गृहस्थ के लिये जयणासे व्यवहार करना तथा अभयदान, सुपात्र दान देना है।

व्यवहार दृष्टि से दान—दीन दुखी को अन्न, वस्त्रादि, रोगी को दवादि देना है।

आत्मिक दृष्टि से लाभ का अर्थ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य एव व्रतादि धर्मध्यान के लाभ प्राप्ति होने को समझ।

व्यवहार दृष्टि से लाभ—रूप, बल, यौवन आदि तथा मकान, धन धान्य, सन्मानादिके लाभ—प्राप्ति होनेको कहते हैं।

इसी प्रकार भोग, उपभोग, वीर्य म दोनों दृष्टि से विचार करना चाहिये। अत जो मनुष्य अन्य किसी जीव को इन पाचो लाभादिमे अन्तराय बाधा देता है, उसे भी इन लाभो में बाधा आयेगी। इसे अन्तराय कर्म कहते हैं। जैसे, भगवान् रिषभदेव ने पूर्वजन्म में किसी बैल के मुह म छींका बाँध दिया था, जिससे बैल १२ घटो तक चारा पानी न करसका, फलस्वरूप भगवान को १२ महीनों तक आहार पानी का अतराय रहा। इसी प्रकार किसी के धर्म, ध्यानादि मे बाधक बननेसे अपने को भी धर्म ध्यानादिमे बाधा आवेगी ही। अपना हित चाहने वाले को किसी के लाभादि मे बाधक नहीं बनना चाहिये।

५, वदेनीयकर्म—दो प्रकार हैं,—असातावेदनी, साता वेदनीय

(१) असातावेदनीय कर्म—पापके कडवे फलों को असाता वेदनीय कहते हैं। इनके बध में मूल कारण ये है कि दुःख, शोक, सताप, आक्रन्दन (आर्त ध्यान) करनेसे, अथवा वध, हिंसादि करने से असाता का बंध होता है। सुख चाहने वाले मनुष्य को इनसे अवश्य बचना चाहिये।

(२) सातावेदनीय कर्म – पुण्य के मीठे फलोंको सातावेदनीय कहते हैं, इसके बध म ये कारण हैं। सभी प्राणियोंपर दया रखने से। साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका व्रतियों पर विशेष दया रखने तथा उन्हें दान देनेसे। तथा कीर्ति की इच्छा बिना दान देनेसे। सराग सयम (साधु के पच महाव्रत), सराग—सयमासयम (श्रावकके १२ व्रतों) से। आत्म भाव बिना मत न लेनेपर भी दुःख कष्टों को शान्ति से सहने से। मिथ्या दृष्टिके बालतपसे तथा लोभादि को कमकर सतोष रखने से, तथा शक्ति रहते हुए भी विपरीत परिस्थितिम भी क्रोधादि न कर क्षमादि करनेसे जीव के साता वेदनीय कर्म पुण्य का बंध होता है। नीति या लौकिक धर्म पालने से मनुष्यके साधारण पुण्य बंधता है।

६—आयुकर्म—जीवके भावानुसार उसके जब तीव्रतम परिणाम होते हैं, तब गति, उसमें स्थिति आयु का बध होता है। आयुकर्म का बध जीवन मे एक बार ही होता है। गतिचार हैं —देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, नरकगति।

(१) नरकगति—दुखों की तारतम्यता से सात है। अति लोभवश जीवके धन, धान्यादि ६ प्रकार के परिग्रहों में अत्यन्त ममत्व होने के कारण उन्हें सचय करता है, या करना चाहता है। उसे बहु परिग्रही कहते हैं, तथा उसके सचय के लिये महा आरम्भ समारभ करता है, जिससे पृथ्वी, जलादि तथा त्रस-जीवों की बहुत हिंसा होती है, उसे महारभ कहते है। इस प्रकार महाआरम्भ, महापरिग्रह के कारण मनुष्य नरक गति के अनुकूल आयुकर्म का बधकर मृत्युके वाद नरक में जन्म लेता है।

(२) तिर्यंचगति—मच्छादि जलचर, पशु आदि स्थलचर, पक्षी आदि खेचर तथा स्थूल या सूक्ष्म वनस्पतिकाय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु है। अतितृष्णावश जीव की विषयों मे लोलुपता के कारण वह उसे प्राप्त करने के लिये अत्यन्त माया प्रपच करता है, जिससे मनुष्य अपने भावानुसार तिर्यन्च गति के अनुकूल आयु कर्म बध होने से वह मृत्यु के बाद उनमे जन्म लेता है।

(३) मनुष्यगति—अढाई द्वीप के १०१ क्षेत्रामे मनुष्य जन्म लेते हैं, मनुष्य आयु मे बध का कारण—अल्प आरम्भ अल्प परिग्रह याने प्रयोजन के अनुसार आरभ करना परिग्रह रखना, तथा दया, सरलता कोमलतादि गुण से मनुष्य आयु का बध होता है।

(४) देव आयु—चार निकाय के देव जैसे वानव्यतर देव, भुवन पतिदेव, ज्योतिषी देव, वैमानिकदेव।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य के अज्ञान तप या सयम से। गृहस्थ के

१२ व्रतपालन करने से, तथा पचमहाव्रत रूप साधु जीवन से भावानुसार देव आयु का बंध होता है।

(७) नामकर्म—जीव के नामादि को कहते हैं, वे दो प्रकार हैं—अशुभ-नाम तथा शुभनाम कर्म। मनुष्य के शरीर, मन, वचन के द्वारा होनेवाली कुटिलता, विषमता से अशुभ नाम कर्म का बंध होता है, इसके विपरीत योग की सरलता, समता से शुभ नाम कर्म का बंध होता है। नामकर्म के ४२ भेदों तथा उत्तर भेदों में जो शुभ हो उसे - शुभनामकर्म बाकी के—अशुभ नाम कर्म समझें। नामकर्म के मूलभेद ४२ हैं, जैसे, गतिनाम, जाति नाम, शरीर नाम, अंगोपांगनाम, निर्माणनाम, बंधननाम, संघात नाम, संस्थाननाम, संहनननाम, स्पर्शनाम, रसनाम, गंधनाम, वर्णनाम, आनुपूर्वीनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, परघातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उच्छ्वासनाम, विहायोगतिनाम, प्रत्येक शरीरनाम, साधारण शरीरनाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सूक्ष्मनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, अपर्याप्तनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम, ये कुल ४१ हुए, तथा तीर्थङ्करनाम कर्म मिलाकर ४२ भेद हुए। नामकर्म के उत्तर भेद अनेक होते हैं। जैसे गति के भेद से नरकादि चार गति के नाम, जाति के भेद से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और पंचेन्द्रि जाति नाम कर्म हैं।

८—गोत्रकर्म—दो भेद हैं—नीचगोत्र और उच्चगोत्र। नीच गोत्रकर्म दूसरों की निन्दा करने से, दूसरों के गुणों को ढकने से तथा अपनी प्रशंसा करनेसे या अपने में गुण न होने पर भी दम्भकरने से मनुष्यके नीच गोत्रकर्म बंधता है। उच्चगोत्रकर्म—दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना तथा अपने दोषों की निन्दा करने या खराब समझने से मनुष्य के उच्चगोत्र कर्म का बंध होता है।

श्रीसहजानन्द कृत—

इच्छा रोधन तप—पद

जेजे ईच्छेलु पूर्वे, तेते मले अत्यारे।
जेजे ईच्छयुँ न पूर्व तेतो मले न क्यारे ॥१॥
जे मोह भावे ईच्छयु, तिनने मुझरा जेनु ।
तन संग बंधनादि, फलीने मल्युज तेवुँ ॥२॥
तेथी मुझायछे तुँ, पण एछे दोष केनो।
छे निमित्त मात्र तने, दछे तु दोष सेनो ? ॥३॥
करे हर्ष शोक शानो ? तज मोह रे अभागी,
निज दोष थी बंधाया, छुटे ए दोष त्यागी ॥४॥
मम भाव थी सहीले, राग्या रहे न कर्मो,
आवे तने छोडवा, था केम तु निशर्मो ॥५॥
ऐने जो तजेनो, सहजात्म स्वरूप दृष्टा,
स्थिर ध्यानमां ठरे तो, छो सहजानन्द सृष्टा ॥६॥
ॐ शान्ति

मनुष्य मार्गणा यन्त्रकम्

मनुष्य ओघ से तथा पहला गुणस्थानक मिथ्यात्व से तेरहवें गुणस्थानक तक
कितने कितने कम बाँधता है, तथा चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में
कर्म नहीं बाँधता उसकी तालिका।

गुणस्थानकों के नाम	बन्धप्रकृति	अबंधप्रकृति	विच्छेदप्रकृति	ज्ञानावरणीय	दर्शनावरणीय	वेदनीय	मोहनीय	आयुकर्म	नामकर्म	गोत्रकर्म	अन्तरायकर्म	मूलप्रकृति
ओघे	१२०	०	३	५	९	२	२६	४	६७	२	५	७ या ८
१ मिथ्यात्वे	११७	३	१६	५	९	२	२६	४	६४	२	५	७ या ८
२ सास्वादने	१०१	१९	३१	५	९	२	२४	३	५१	२	५	७ या ८
३ मिश्रे	६९	५१	०	५	६	२	१९	०	३१	१	५	७
४ अविरते	७१	४९	४	५	६	२	१९	१	३२	१	५	७ या ८
५ देशविरते	६७	५३	४	५	६	२	१५	१	३२	१	५	७ या ८
६ प्रमत्तसयते	६३	५७	६ ७	५	६	२	११	१	३२	१	५	७ या ८
७ अप्रमत्तसयते	५९ / ५८	६१ / ६२	१	५	६	१	९	१	३१	१	५	७ या ८
निवृत्ते	२६ / ५६ / ५८	९४ / ६४ / ६२	२ ३	५	४ / ६	१	९	०	३१	१	५	७
९ अनिवृत्ते भागे	२० / २१ / २२	१०० / ९९ / ९८	१ / १ / १	५	४	१	४ / ५	०	१	१	५	७
९ अ ,,	१८ / १९	१ २ / १ १	१ / ५	५	४	१	१ / २	०	१	१	५	७
१० सूक्ष्मसपराये	१७	१०३	१६	५	४	१	०	०	१	१	-	६
११ उपशांतमोहे	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१२ क्षीणमोहे	१	११९	०	०	०	१	०	०	०	०	०	१
१३ सयोगी केवली	१	११९	१	०	०	१	०	०	०	०		
१४ अयोगीकेवली	०			०	०	०	०	०	०			

ॐ नम

अशुभ आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान का विवेचन

श्री यशोविजय कृत अध्यात्म सार के आधार से।

१ आर्त्तध्यान—शरीरादि में मोह ममत्व के प्रभाव से होनेवाली विचार मग्नता को कहते हैं। ये चार हैं—अनिष्ट-सयोग आर्त्तध्यान रोगार्त्त ध्यान, इष्ट वियोग आर्त्तध्यान, निदानार्त्तध्यान।

(१) अनिष्ट सयोग—मन के प्रतिकूल शब्दादिक विषय जो प्राप्त हुए हैं उनका कसे वियोग हो, तथा अनिष्ट पर शत्रु आदि का सयोग न हो जाय, इस प्रकार विचार चिन्तन को पहला आर्त्तध्यान कहते है।

(२) रोगार्त्त - अपने या परिवार के रोग की पीडा से व्याकुल रहना तथा तत् सम्बन्धी चिन्ता करने को दूसरा आर्त्त-ध्यान कहते हैं।

(३) इष्ट वियोग—लोभवश मन के अनुकूल शब्दादिक विषय वासना की कैसे पूर्ति हो, धनादि की इच्छाय कैसे पूर्ण हों तथा प्राप्त धनादि परिग्रह के वियोग होने से दुःख चिन्ता कर विचार धारा का तीसरा आर्त्तध्यान कहते है।

(४) निदानार्त्त—धर्म के फल स्वरूप इस लोक तथा परलोक के क्षणिक सुखो को तथा इन्द्रादिक पद प्राप्त करने रूप विचार मग्नता को चौथा आर्त्तध्यान कहते है।

वाले के प्रति हिंसारूप चिन्ता तथा धनादि के संचय के लिये हिंसा युक्त व्यापार के चिंतन रूप विचार धारा को चौथा रौद्र ध्यान कहते है।

मनुष्य के ऐसे ऐसे अध्यवसायों में तीनों अशुभ लेश्या की तारतम्यता से उसके आयु कर्म का बन्ध हो जाय तो मरने पर वह पहले से सातवें नरक तक जा सकता है। अतः रौद्रध्यान रूप भीतरी शत्रु से सावधान रहकर अपने को दुर्गति में जाने से बचाओ। आप वचन काया से धार्मिक क्रिया करते हों, किन्तु आप का मन कषाय भावों की तीव्रता से आर्त्तध्यान या रौद्र-ध्यान करता हो तो आप उसके बुरे परिणाम से अपने को नहीं बचा सकते। जैसे, राजा प्रसन्नचन्द्र को संसार से विराग हो जाने के कारण उन्होंने दीक्षा ली—साधु बन गये। भगवान महावीर के समवसरण के पास आत्म साधना के लिये वे कायोत्सर्गध्यान में खड़े हो गये। उधर से जाते हुए किसी ने कहा कि राजा साधु हो गये, उधर शत्रु ने युवराज को बालक जान राज्य पर चढ़ाई कर दी। राजऋषि के कानों में भी ये शब्द पहुंचे, जिससे वे अपने साधनावस्था को भूलकर मन ही मन शत्रु से लड़ाई करने लगे, इस प्रकार गहरे रौद्रध्यान में तल्लीन हो गये। इधर राजा श्रेणिक ने भगवान् से प्रसन्नचन्द्रजी के तपश्चर्या की प्रशंसा की, तो भगवान् ने कहा कि यदि अभी उनकी मृत्यु हो तो सातवें नरक में जावे। श्रेणिक को यह सुनकर आश्चर्य होने से कारण पूछा, तब भगवान् ने उसके रौद्रध्यान

की बात कही। इधर राजऋषि ने ध्यान की तीव्रता में ही अपने मस्तक मे हाथ रखा तो मुकुट नही पाया, उनके विचारो ने पलटा खाया, हार्दिक पश्चाताप कर इकट्ठे हुए कर्म दलियों को बिखेर दिया। यदि रौद्रध्यान मे बुद्ध और स्थिति रहती तथा कर्मों मे स्थिति, रसादिका बध पड गया होता तो क्या वे नरक जाने से बच सकते? अत आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान व बुरे फल को आप स्वय विचार तथा उनसे बचने का प्रयत्न करना आपका कर्तव्य है।

मनोजय मत्रपद–श्री सहजानन्द कृत

मुक्षमां मुक्षमां मुक्षमारे, परभाव चेताजी मुक्षमारे।
आप-स्वभाव घर सौख्य भर्युं छे, ज्ञान आनन्द अनुपमारे।
देह, स्वजन, धन, राग सम्बधे, शाने पडे भव कूपमारे ॥पर०॥
इष्ट सयोग ए तो पुण्य तणु फल, ते तो अनित्य स्वरूप मारे।
एकांत दु खमय तेम छता तू, शाने राचे जड धूपमारे ॥पर०॥
अनिष्ट सग फल पाप तणुए हसे क्यूं छे ते जमारे।
जवु वावे ते लणे तेवु फल, धरे पछी शुं अणगमारे॥पर०॥
इष्ट अनिष्टमां धर तु समता उर, विकल्प जाळ सवी शमारे।
मत्र मनोजय अजपा अगीकर, जो सत् सौख्यतणी तमारे ॥पर०॥
मन स्थिरताए प्रगटे सहजानन्द, थाजी हवे तू चूकमारे।
अचित्य ज्ञ भव पामी हवे, निज आत्म सेवाने मुक्षमारे ॥पर०॥

ॐ शान्ति

ॐ नमः

शुभ १२ भावनाएं तथा ४ धर्म ध्यान का विवेचन

श्री यशोविजयकृत अध्यात्मसार के आधार से।

मनुष्य को धर्म ध्यान करने योग्य पात्र बनानेवाली चार भावनाएं है, जैसे वैराग्य, दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावना तथा अनित्यादि १२ भावनाएं।

१ वैराग्य भावना—१ अनित्य भावना, २ अन्यत्व भावना, ३ अशुची भावना,

२ दर्शन भावना—४ अशरण भावना, ५ बोधि दुर्लभ भावना ६ एकत्व भावना,

३ ज्ञान भावना—७ लोक स्वरूप भावना, ८ आश्रव भावना, ९ संसार भावना,

४ चारित्र भावना—१० संवर भावना, ११ निर्जरा भावना, १२ धर्म दुर्लभ भावना,

(१) अनित्य भावना शरीर, रूप, यौवन, धन धान्यादि प्रत्येक रूपी पदार्थ क्षणिक है, विनाशी है। अतः हे आत्मा! इनमें मत राच।

(२) अन्यत्व भावना—शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, घर देहादि सभी अलग दीखते है, मृत्यु के बाद कोई साथ नहीं जाता। अतः हे मन! इनमें ममत्व न कर।

(३) अशुचि भावना—शरीर मल, मूत्र, रक्त मांस, हड्डियों का समूह है। यदि चमड़ी न रहे तो दुर्गंधादि से घृणा होने लगती है। अतः इसका मिथ्या अभिमान न कर।

(४) अशरण भावना संसार में जीव को कोई शरण नहीं हो सकता क्योंकि सर्व रूपी पदार्थ नाशवान् हैं। अत मनुष्य को सवज्ञ भाषित सत् धर्म का ही शरण लेना कर्तव्य है।

(५) बोधि दुर्लभ भावना—अनादि मोह भ्रमसे, संसार के आकर्षण से मनुष्य को आत्म बोध होना दुर्लभ है। अत हे आत्मन्! प्रतिबोध पाने के लिये भागीरथ प्रयत्न कर।

(६) एकत्व भावना—मनुष्य अकेला जन्मता है, मरता है तो अकेला ही जाता है। उसकी किसी रूपी पदार्थ से एकता नहीं। यदि किसी से है तो सिद्ध परमात्मा से है।

(७) लोक संस्थान भावना—अलोक के मध्य यह लोक—पुरुषाकार,१४ रज्जु प्रमाण है, जिसमें नरकादि चार गतियां है। वहाँ पर क्या है उनका विचार करना।

(८) आश्रव भावना—मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग में रमण करता है। अत हे मन! इनमे रमण करना छोड़ नहीं ता दु ख पायेगा।

(९) संसार भावना—जो मनुष्य आश्रवों में रमता है वह संसार के चार गतियों के चौरासी लाख जीवा योनियों में भ्रमण करता है। संसार दावानल की तरह मनुष्य के चित्त को दग्ध करती है, तथा समुद्र की तरह भय, त्रास देनेवाली है। हे, आत्मा! अत इसके कृत्रिम सौंदर्य में मोहित न हो।

(१०) संवर भावना—आश्रवद्वार को रोकनेवाला सम्यक्त्व, विरति, अप्रमत्तदशा, समताभाव तथा तीन गुप्तियां हैं। अत हे आत्मन्! इन्हें समझ कर तदनुकूल आचरणकर।

(११) निर्जरा भावना—हे आत्मन् ! इस भयानक संसार भ्रमण से बचने के लिये बारह तप तथा ये बारह भावनाओं का चिन्तन कर एवं क्रमशः धर्म ध्यान ध्याने का प्रयत्न कर।

(१२) धर्म दुर्लभ भावना—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य आत्म ध्यान से वंचित रहता है, बिना आत्म उपयोग में रहे यथार्थ धर्म होना दुर्लभ है। अतः शीघ्र आत्म साधन करना हो तो तन मन धनको साधना में निछावर कर दे।

३ धर्मध्यान—मनुष्य को दुर्गति से बचाने में समर्थ धर्म-सर्वज्ञ वचन में विचार-मग्नता को धर्मध्यान कहते हैं। वे चार प्रकार हैं। आज्ञा विचय धर्मध्यान, अपाय-विचय धर्मध्यान, विपाक विचय धर्मध्यान, संस्थान विचय धर्मध्यान।

(१) आज्ञा विचय धर्मध्यान—सर्वज्ञ की आज्ञा का विचय-विचार, चिन्तन करना है।

भगवान महावीर स्वामी का स्याद्वाद स्वरूप पारमार्थिक प्रवचन जो सातनय, सप्तभंगी से युक्त तथा नाम से, स्थापना से द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे, भावसे एवं प्रत्यक्ष प्रमाण केवल ज्ञानसे प्रमाणित वाणी प्राणिमात्र के लिये हितकारी, भव्य जीव के लिये कल्याणकारी है। इस अमृत तुल्य वाणी का जो प्राणी आदर कर पालन करेगा, वह संसार में सुखी होगा। तथा जो भव्य जीव समझकर सादर पालन करेगा वह मार्गानुसारी बन कर क्रमशः तीव्र कषाय भावों को उपशम कर अपने दर्शन मोहनीय के सातों प्रकृतियों का क्षयोपशमादि करके सम्यग्दृष्टि

बन जायगा, तथा चारित्र मोहनीय कर्म का आंशिक क्षयोपशम करने पर श्रावक के १२ व्रतों को पाल सकेगा, क्रमश प्रत्याख्यानी कषाय का क्षयोपशम करने पर वह साधु जीवन-पच महाव्रतादि पालन कर सकेगा।

(२) अपाय विचय धर्मध्यान, अपाय—दु ख के कारणों का, विचय विचार, चिन्तन करना। स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले सभी जीव तथा वे मनुष्य जो भगवान की वाणी के आशय को नहीं समझ पाये हैं, उन्हें आत्म स्वरूप का भान न रहने से शरीरादि में मोह ममता, राग, द्वेष करते हैं। फल स्वरूप जन्म मरण कर दु ख पाते हैं। अत भगवान की वाणी के आशय को समझकर रूपी पदार्थों म मोह ममता तथा कषाय भावों को उपशमादि करने से ही जन्म मरण रूप दु ख से छुटकारा पाया जा सकता है।

(३) विपाक विचय धर्मध्यान, विपाक-कर्म के फलों का, विचय विचार चिन्तन करना है। जैसे, कषाय युक्त विषम भावों से जीव जैसे-जैसे आयु, उदयीयादि कर्मबंध करता है, वैसे वैसे ही उसे अपन कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अपन उन-उन कर्म फल को भोगने के लिए वैसी गतिमे वैसा वेसी परिस्थितियों को सहन करना ही पड़ता है। इससे जीव को भय, चिन्ता, दु ख हमेशा बना रहता है। अत कर्म के इस शृ खला को तोड़ने के लिये विवेकी मनुष्य का कर्त्तव्य हो जाता है कि कर्म फल को भोगते समय स्वतम अव्यापक रहकर साक्षी भाव से बरते।

(४) संस्थान विचय धर्मध्यान—संस्थान-संसार के स्वरूप

का, निचय विचार-चिन्तन करता है। अनत आकाश के मध्य मे असत्यप्रदेशी पुरुषाकार चौन्ह रज्जु प्रमाण लोक है। लोक के नीचे के मध्य भागों मे सात नरक हैं, उसके उपर भुवनपति नाग कुमारादि देव ह, यहाँ तक अधोलोक है। तथा उपर वाण-व्यन्तरादि देव, उसके उपर असख्य द्वीप, समुद्र वाला मध्यलोक है, बीच के अढाईद्वीपों के १०१ क्षेत्रोंमे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि हैं, बाकी सब द्वीपों मे तिरियच गति के ही जलचर, स्थलचर, खेचर-पक्षी आदि प्राणी है। इनके उपर सूर्य, चन्द्रादि ज्योतिषी देव है। उसके उपर ऊर्ध्वलोक म बारह वैमानिक देवलोक, नव ग्रैवेक, एव अनुत्तर विमान रूप लोक क्रमश उपर-उपर ह। ललाट मे सिद्ध शिला है। एव लोक के अन्त मे अनत सिद्ध परमात्मा स्थित हैं।

अनादि मोह ममता से स्वछद वर्त्तन के कारण जीव जैसे जैसे कर्म बधन करता है उसके फल को भोगने के लिये लोक (ससार) के वैसे वैसे स्थानो में जन्म लेकर वैसी-वैसी परिस्थितियों के द्वारा अपने कर्म फलों को भोगता है।

धम ध्यान मे तेज, पद्म शुक्ल तीन शुभ लेश्याओं मे से एक लेश्या होती है। लेश्या की तारतम्यतासे धर्मध्यान मे आयु-वेदनीयादि कर्म का बधन हो तो मनुष्य अपने तारतम्य भावानुसार मनुष्य गति या देवगति मे जन्म लेता है। अत मनुष्य को दुर्गति म ले जाने वाले आर्त्तध्यान, रौद्र ध्यान को उसे इस प्रकार धमध्यान से रोकना कर्त्तव्य है।

पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एव रूपातीत ध्यान का विवेचन

श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र के आधार से।

पुरुषाकार त्रिलोक के मध्य (नाभि) भागमें, अढाइ द्वीपों में १०१ मनुष्य क्षेत्र हैं। जहाँ मनुष्य जन्म लेते हैं। पुरुषाकार लोक (ससार) के अतमें सिद्धात्माओं का स्थान मोक्ष है। अत मनुष्य को अपने ससार-बधन से मुक्त होकर, अपने लक्ष्य स्थान में पहुचना है।

मनुष्य शरीर का मध्य—नाभि कमल है, ॐकार की ध्वनि यहाँ से निकलकर उर्ध्व गमन करती है। मनुष्य का हृदय, शक्ति केन्द्र तथा मस्तक विचार केन्द्र है, वह हृदय से विश्राम तथा मस्तक से विचार करता है। जीवके आठ रुचक प्रदेश जिनमें कर्म नहीं लगते, वे उसके चेतन शक्ति केन्द्र हैं—त्रिकाल निर्मल है। उस विशुद्ध चेतन सत्ता के कारण ही जीव को नैगम नय से आगम मे सिद्धात्मा के तुल्य कहा है।

यदि मनुष्य अपने आत्म प्रदेशों को कर्मों से रहित विशुद्ध करना एव अपने सत्ता मे बीज रूपसे रहे हुए केवल ज्ञान का अनुभव प्रतीति रूपसे करना चाहे तो उसे प्रवृत्ति से निवृत होकर या सामायिक (४८ मिनिट तक) लेकर एक आसन में बैठे, तथा समता भाव से पिंडस्थ ध्यान इस प्रकार कर सकता है। 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। जैसे मैं चेतनमय आत्मा जड शरीर पीजडे मे बसा हु, अत मध्य शरीर नाभि से ॐ ध्वनि के सहारे उर्ध्वगमन कर साधना पर साधु म पहुचकर स्थिर हो जाऊँ। (२) पदस्थ ध्यान—पच परमेष्ठि स्वरूप ॐकार

अनादि मत्राक्षर उर्ध्व पहुंच कर माधक के मुख मडल पर पूर्व कथनानुमार स्थिर होता है, उसमे रहे पच परमेष्ठि स्वरूप का ध्यान करना, पदस्थ ध्यान है।

(३) रूपस्थ ध्यान—भृकुटि में चन्द्राकार पर अरिहंत भगवान् समवसरे (विराजे) हैं उनको निरखते हुए उनके केवल ज्ञानादिस्वरूप का विचार ध्यान करने को रूपस्थध्यान कहते हैं।

(४) रूपातीत ध्यान—बिन्दु मे सिद्ध परमात्मा के निरजन, निराकार निर्विकार स्वरूपके ध्यान में तल्लीन होना, याने ध्याता का ध्यान के द्वारा ध्येय म समानाना समाधिस्थ हो जाना है।

निज कर्त्तय पद—श्री सहजानन्दकृत

चेतन जी ! तु तारू सम्भाल, मूकी अन्य जजाल ।।चेतन०।।
तू छे कोण ? शुं तारु जगत मां ? आप स्वरूप निहाल।
द्रव्य थकी तू आत्म पदारथ, नित्य अखण्ड निराल ।।चेतन०।।
वर्ण, गन्ध रस स्पर्श रहित तू, अरूपी अविकार।
असयोगी अमर अकृतिम, ध्रुव शास्वत एक सार ।।चेतन०।।
षट्गुण हानि वृद्धि चलात्मक, पर्यय वर्तना काल।
लोकाकाश प्रमाण प्रदेशी, क्षेत्र तणा रखवाल ।।चेतन०।।
स्वभावे प्रत्येक प्रदेशे, गुण गण अनत अपार।
गुण गुण प्रति पर्याय अनता, स्व पर उभय प्रकार ।।चेतन ।।
प्रति पर्याये धर्म अनन्ता, अस्ति नास्ति अधिकार।
ए ज्ञानादिक सपद तारी, जड त्यागी, घर प्यार ।।चेतन०।।
ज्ञाता दृष्टा साक्षी भावे, उपादान सुधार।
। भोक्ता सहजानंद नो, अनुभव पथ स्वीकार ।।चेतन०।।

शुद्ध शुक्ल ध्यान (मोक्ष का कारण) का विवेचन

सद्‌गुरु श्री सहजानन्द कृत व्याख्या से।

४ शुक्ल ध्यान—शुद्धात्मानु ध्यान ते शुक्ल ध्यान।

शुक्-शोक शारीरिक, मानसिक दुःख, ल—तल्लुनाति—विच्छेद करवो, ते शुक्ल ध्यानछे।

(१) आश्रव वड़े प्राप्त थर्ता दु ख, (२) ससारना अनुभव, (३) जन्म परम्परा, (४) अने पदार्थों नां विपरिणाम विचारवाथी, अनुप्रेक्षा करवाथी शुक्लध्याननी दृढता थाय छे।

अनभिसधिज—कषाय थी वीर्यनु प्रवर्त्तवु। अभिसधिज—आत्मानी प्रेरणा थी वीर्यनु प्रवर्त्तवु। शुक्लध्यानी ना चार चिन्हा—लक्षण थाछे।

(१) अवध—परिषह, उपसग प्रत्ये अचलता। (२) असमोह-सूक्ष्म अने गहन देव मायादिमां पण न मुझावु। (३) विवेक—देहादि त्रिविध कर्मों थी तद्दन असग, एवा ज्ञायक भावमां तन्मयता। (४) व्युत्सग—देहादि सुर्वानु त्याग—देहातीत जीवन। १, पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान छे। (१) स्व द्रव्य-पर्यायगत गुणोंनु गुणांतर पणे सक्रमणते पृथक्त्व, (२) नैगमादि विविध नयाश्रित शास्त्र बोधते-वितर्क (३) अथ—'प्रयोजन भूत द्रव्य पर्याय' मां रहेला लयनु व्यजन (शब्द) मां सक्रमण तथा व्यजन मां रहेला लयनु योगमां सक्रमण ते सविचार।

चौदह पूर्वगत् श्रुतनो रहस्य भूत मात्र आत्मीय पृथक पृथक गुण पर्यायों सम्बन्धि नानां प्रकार नां नयाश्रित निर्मल विचार धारा स्थिरताने पृथक्त्व वितर्क—सविचार शुक्लध्यान कहे छे।

अनादि मंत्राक्षर उर्ध्व पहुच कर साधक के मुख मंडल पर पूर्व कथनानुसार स्थिर होता है, इसमें रहे पंच परमेष्ठि स्वरूप का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है।

(३) रूपस्थ ध्यान—भृकुटि में चन्द्राकार पर अरिहंत भगवान समवसरे (विराजे) है उनको निरखते हुए उनके केवल ज्ञानादिस्वरूप का विचार ध्यान करने को रूपस्थध्यान कहते हैं।

(४) रूपातीत ध्यान—बिन्दु में सिद्ध परमात्मा के निरंजन, निराकार निर्विकार स्वरूपके ध्यान मे तल्लीन होना, याने ध्याता का ध्यान के द्वारा ध्येय मे समाजाना समाविष्ट हो जाना है।

निज कर्त्तव्य पद—श्री सहजानन्दकृत

चेतन जी ! तु तारू सम्भाल, मूकी अन्य जजाल ॥चेतन०॥
तू छ कोण ? शुतारू जगत मां ? आप स्वरूप निहाल।
द्रव्य थकी तू आतम पदारथ, नित्य अखण्ड त्रिकाल ॥चेतन०॥
वर्ण, गन्ध रस स्पर्श रहित तू, अरूपी अविकार।
असयोगी अमल अकृतिम, ध्रुव शाश्वत एक सार ॥चेतन०॥
षट्गुण हानि वृद्धि चक्रात्मक, पर्यय वर्तना काल।
लोकाकाश प्रमाण प्रदेशी, क्षेत्र तणा रखवाल ॥चेतन०॥
स्वभावे प्रत्येक प्रदेशे, गुण गण अनत अपार।
गुण गुण प्रति पर्याय अनता, स्व पर उभय प्रकार ॥चेतन०॥
प्रति पर्याये धर्म अनंता, अस्ति नास्ति अधिकार।
ए ज्ञानादिक सपद रागी, जड त्यागी, घर प्यार ॥चेतन०॥
ज्ञाता दृष्टा साक्षी भावे, उपादान सुधार।
भोक्ता सहजानंद ना, अनुभव पथ स्वीकार ॥चेतन०॥

शुद्ध शुक्ल ध्यान (मोक्ष का कारण) का विवचन

सदगुरु श्री सहजानन्द कृत व्याख्या से।

४ शुक्ल ध्यान—शुद्धात्मानु ध्यान ते शुक्ल ध्यान।

शुक्-शोक शारीरिक, मानसिक दु ख, ल—तल्लुनाति—विच्छेद करवो, ते शुक्ल ध्यानछे।

(१) आश्रव थड़े प्राप्त थता दु ख, (२) ससारना अनुभव, (३) जन्म परम्परा, (४) अने पदार्थों नां विपरिणाम विचारवाथी, अनुप्रेक्षा करवाथी शुक्लध्याननी दृढ़ता थाय छे।

अनभिसधिज—कषाय थी वीर्यनु प्रवर्त्तवु। अभिसधिज—आत्मानी प्रेरणा थी वीर्यनु प्रवर्त्तनु। शुक्लध्यानी नां चार चिन्हां—लक्षण आछे।

(१) अवध—परिषह, उपसग प्रत्ये अचलता। (२) असमोह-सूक्ष्म अने गहन देव मायादिमां पण न मुकावु। (३) विवेक—देहादि त्रिविध कर्मों थी तद्दन असग, एवा ज्ञायक भावमा तन्मयता। (४) व्युत्सर्ग—देहादि सुर्वोनु त्याग—देहातीत जीवन।

१, पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान छे। (१) स्व द्रव्य-पर्यायगत गुणोंनु गुणांतर पणे सक्रमणते पृथक्त्व, (२) नैगमादि त्रिविध नयाश्रित शास्त्र बाधते-वितर्क (३) अर्थ—'प्रयोजन भूत द्रव्य पयाय' मां रहेला लयनु व्यजन (शब्द) मा सक्रमण तथा व्यञ्जन मां रहेला एयनु योगमां सक्रमण ते सविचार।

चौदह पूर्वगत् श्रतना रहस्य भूत मात्र आत्मीय पृथक्-पृथक् गुण पर्यायों सम्बन्धि नाना प्रकार नां नयाश्रित निर्मल विचार धारा स्थिरताने पृथक्त्व वितर्क—सविचार शुक्लध्यान कहे छे।

आ प्रथम शुक्ल ध्यान थोडा चपल तरंग वाला
छता क्षोभ रहित समुद्रनी जेम मन वचन
काया ना योग वाला गुप्ति धर साधक ने होय।
शुक्ल ध्यानी महापुरुष ने शुक्ल लेश्या होय।

२-एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान, समस्त श्रुत ज्ञानना रहस्यभूत केवल निज आत्मद्रव्य सम्बन्धि गुण पर्यायनां एकत्व पणे नाना नयाश्रित निर्मल विचार धारा—तल्लीनताते बीजु शुक्लध्यान छे। आ ध्यान वायु रहित स्थान स्थित दीपक नी माफक निष्कंप होयछे, आ ध्यानमा स्थिरताथी कैवल्य प्रगटाय छे।

३-सूक्ष्मक्रिया निवृत्ति—शुक्लध्यान—सूक्ष्म बादर मन, वचन योगो अने बादर काया योगनु रू धन त्रीजु शुक्लध्यानछे। आ ध्यान तेरमा गुणस्थान ना अंते केवली ने वर्त्ततुं होयछे।

४—समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान—त्रणे योगनो व्यापार नो सर्वथा उच्छेद थाय, ते चोथु शुक्लध्यान छे। शैलेसी अवस्था मां चौदमें गुणस्थाने होयछे।

पद

दर्शन ज्ञान रमण एक तान, करता प्रगटे अनुभव ज्ञान।
देह आतम जेम खड्ग ने म्यान, टले भ्रान्ति अविरति अज्ञान।
ज्ञाता दृष्टा शाश्वत धाम, सच्चिदानन्द आतमराम।
ध्याता ध्यान ध्येय गतकाम, हू सेवक ने हूँ छु स्वाम।

ॐ सहजानन्द

ॐनम

समकितना सडसठ बोलनी सज्झाय का भावार्थ

श्री यशोविजय कृत

सद्दहणा चार प्रकार हैं—१-परमार्थसस्तव—जीवादि तत्वोंकी हार्दिक श्रद्धा करना। २ सम्यग् ज्ञानी सद्गुरु की सेवा, भक्ति करना। ३-व्यापन्न दर्शन वर्जन—हीणाचारी कुगुरु का संग न करना। ४-कुदर्शन वर्जन—मिथ्या दर्शनीयों का परिचय न बढाना।

लिंग तीन प्रकार है। १-शुश्रूषा—धर्म सुनने जानने की अभिरुचि। २ धर्मप्रेम "क्षुधातुर को मिष्टान्न की इच्छा की तरह" धर्म में रुचि। ३—वैयावच्च सच्चे साधु साध्वी की सेवा, शुश्रूषा, आहार, वस्त्रादि देना, सुपात्रदान है।

विनय दस प्रकार हैं। १ अरिहंत भगवान का विनय भक्ति करना। २ सिद्ध परमात्मा का नमस्कार करना। ३ जिन चैत्य का—प्रभुमूर्ति का पूजा सेवा करना। ४ श्रुत-सिद्धान्त का अध्ययन, मनन करना। ५-दस प्रकार यति धर्म का आदर करना। ६-साधुओं की सेवा शुश्रूषा करना। ७-आचार्य महाराज तथा ८—उपाध्याय महाराज की सेवा शुश्रूषा करना। ९ प्रवचन सघ जिन आज्ञा के अनुयायीयों का विनय करना। १० सम्यग् दर्शन का आदर करना।

शुद्धि तीन प्रकार हैं। १ मनशुद्धि—मन से कुमति ममता को निकालकर सुमति समता को धारण करनेसे। २ वचन शुद्धि

हितकर सत्य बोलने से। ३-कायशुद्धि—हिंसा, चोरी, मैथुन, आरंभादि त्यागने से।

दूषण पांच प्रकार हैं। १ शंका—सर्वज्ञके वचन में शंका करना। २ कांक्षा—एकान्त वादी मत मे रुचि होना। ३-विचिकित्सा जिन धर्म के फलमे सदेह करना। ४ मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना। ५ मिथ्यामति का परिचय बढ़ाना।

प्रभावक आठ प्रकारके होते हैं। १—शास्त्रोंमे पारगामी। २-अपूर्व धर्म उपदेशक। ३—परवादी को निरुत्तर करने वाले। ४-नैमित्तिक ज्ञानी, ५-तपस्वी। ६ मंत्र एव विद्या में प्रवीण। ७ सिद्धि सम्पन्न। ८ श्रेष्ठ कविता बनाने वाले।

भूषण पांच प्रकार हैं। १ जिन शासन मे कुशलता। २ जिन शासन की प्रभावना। ३-तीर्थों की सेवा करना। ४ जिन धर्म में निश्चलता। ५ शुद्धदेव, गुरु की भक्ति करना।

लक्षण पांच प्रकार हैं। १ उपशम—क्रोध, मान, माया, लोभ, का शान्त करना। २ संवेग—धर्मकार्य में रुचि होना। ३ निर्वेद संसार कार्य में अरुचि होना। ४-अनुकम्पा स्व पर में दया बुद्धि रहना। ५ आस्तिक्य—स्व आत्मा में तथा सर्वज्ञ के शासन में श्रद्धा रहना।

यतना छ प्रकारहैं। १—मिथ्यात्वि देव को वन्दनादि न करना। २ भेषधारी साधु को सद्‌गुरु समझ वन्दना न करना। ३-कुपात्र में सुपात्र की बुद्धि से दानादि न देना। ४ तथा आग्रह से बारम्बार दान न देना। ५-आलापना

६—सलापना—मिथ्या-मतियों से धर्म सम्बन्धी चर्चा न करनेसे समकित पुष्ट होती है।

आगार छ प्रकार हैं। १—राजाभियोग से। २—गणाभियोग से। ३-बलाभियोग से। ४ देवाभियोग से। ५ कांतारवृति से। ६-गुरु निग्रह से। इन कारणों से समकित व्रत में वचन काया से बाधा आवे तो छूट रहती है, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य का मन से तो दृढ़ रहना कर्तव्य है।

भावना छ प्रकार है। (१) समकित को जिन धर्म का मूल समझना। (२) इसे धर्म मन्दिर का पाया जानना। (३) इसे जिन धर्म का आधार मानना। (४) इसे धर्म रूपी नगर का द्वार समझना। (५) समकित को आत्मधर्म का भाजन जानना। (६) समकित को आत्म धर्म का निधि मानना।

स्थानक छ हैं। (१) जीव है। (२) जीव नित्य है। (३) जीव कर्म का कर्ता है। (४) कर्म का भोक्ता है। (५) जीव का मोक्ष है। (६) मोक्ष का उपाय सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। इसे 'आत्मसिद्धि' के अनुवाद में विस्तार से लिख चुके हैं, वहाँ से जान लेवें।

इस प्रकार सड़सठ भेद से समकित व्रत को धारण कर पालने वाला मनुष्य श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण कर सकता है, या साधु के पंच[1] महाव्रतों को पाल सकता है, क्योंकि

[1]—पंच महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी मैथुन तथा परिग्रहादि का निवरण, त्रियोग से त्याग करने रूप हैं। साधु आचार के विषय में जानना हो तो आचारांग सूत्र दस कालिक सूत्र देखें।

जिन आज्ञा के समकित मूल व्रतादि कहे गये हैं। अब भव्य जन का कर्त्तव्य होता है कि मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण करके इस प्रकार मन शुद्धि करे, तथा अविरति-ममता रूप आचरण को त्यागकर, विरति-समता रूप आचरण कर मन, वचन, काया की शुद्धि के द्वारा आत्मशुद्धि अपनी भावनाओं की शुद्धि करे। आत्म शुद्धि के विषय में पहले लिखा जा चुका है। अत श्रावक के आंशिक व्रतों को संक्षेप से लिखेंगे। जिन्हें मन एवा हो उन्हें सद्गुरु की शरण में जाना कर्त्तव्य है।

आत्मा के आश्रव भाव की निन्दा—पद

मुज सम कोण अधम महापापी, आश्रव भाव व्यापी। मुज०।
पर द्रव्ये उपयोग रमणता, आत्महिंसकता व्यापी।
हु मारु परवस्तु भाखण, मृषावाद आलापी। मुज०। २।
ग्रहण भावथी पर पुद्गलने, चोरी मैथुन थापी।
नाम रूप मूर्छाए राचु, परिग्रह मोह अमापी। मुज०। ३।
अभ्यंतर अविरति रति तापण, द्रव्य लिंगता छापी।
आश्रव रमणे संवर थापु, मोक्ष मार्ग अपलापी। मुज०। ४।
आत्म अभाने तत्त्व प्रबोधु नय एकान्त प्रलापी।
अहंभाव निज इत्तर पापु जाणे हूंज प्रतापी। मुज०। ५।
करु आलोचन दोष प्रकाशो, निज आचरणा मापी।
सहजानन्द, प्रभुतारक। तारो आप शरण में थापी। मुज०। ६।

ॐ सहजानन्द

गृहस्थ के आंशिक १२ व्रतों का संक्षिप्त विवरण

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण—संकल्प करके निरपराधी त्रस जीवों को विना कारण नहीं मारूंगा, न मरवाऊंगा, मन से, वचनसे, कायासे। तथा अपने जीवन निर्वाह के आवश्यकतानुसार पाँच स्थावर जीवों की हिंसा की भी अवश्य नित्य सीमा करता है। गृहस्थी के कार्य जयणा से करने पर भी जल्दी में भूल चूक से जीवों की हिंसा हो जाती है। उसके लिये तथा इस व्रत में पांच अतिचार लग सकते हैं, उसके प्रायश्चित्त के लिये सुबह सांझ प्रतिक्रमण करने का विधान है। दूसरे प्राणियो की रक्षा करते हुए, दयावृति से जीवन निर्वाह करना व्यवहार से अहिंसा व्रत है, तथा अपने आत्मा की मिथ्या और कषाय भाव से रक्षा करना ही निश्चय से अहिंसा है।

२—स्थूल मृषावाद विरमण—प्रिय हितकारी सत्य वचन बोलना तथा गृहस्थ जीवन निर्वाह के लिये भी पाँच बड़े झूठ न बोलना जैसे, कन्या के बारे मे, पशुओं के बारे मे, मकान, जमीन के बारे में, किसी की अमानत के बारे में, तथा झूठी साक्षी न देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इस व्रत के भी पाँच अतिचारों का आलोयन प्रतिक्रमण में होता है। यह व्यवहार सत्य है, तथा जिनवाणी के अनुकूल वचन बोलना निश्चय सत्य है।

३—स्थूल अदत्तादान विरमण—लाभवश दूसरे की धनादि कोई वस्तु उसकी जानकारी विना चोरी के इरादे से नहीं लूँगा,

न किसीको लेने को कहूँगा। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इसके पाँच अतिचार हैं जैसे, चोरी का माल खरीदना चोरी की राय देना, वस्तु में मिश्रण करना, राज के टैक्सादि की चोरी करना, जाली नाप तौल करना है। इनसे बचना चाहिये, यदि दूषण लग जाय तो प्रतिक्रमण में पश्चाताप करना चाहिये। यह व्यवहार से अचौर्यव्रत है, तथा पाँच इन्द्रियों के २३ विषयों से आत्मा की रक्षा करना निश्चय से अचौर्य व्रत है।

८—स्थूल मैथुन विरमण—पुरुष के लिये स्वस्त्री तथा स्त्री के लिये पति को छोड़कर बाकी सब स्त्री, पुरुष पशु आदि से सम्भोग करने का त्याग तथा स्वस्त्री से भी नियमित सम्भोग, को कहते हैं। यह व्रत भी दो करण तीन योग से होता है। इसके भी पाँच अतिचारों से बचना चाहिये, यदि लगे तो पश्चाताप करना कर्त्तव्य है। यह व्यवहार से ब्रह्मचर्य व्रत है, तथा निश्चय से आत्म उपयोग में रहना ही ब्रह्मचर्य है।

५—स्थूल परिग्रह परिमाण—लोभ की सीमा करके सतोष रखना जैसे, धन, धान्य, मकान, जमीनादि नौ प्रकार के परिग्रहों की सीमा निश्चित कर बाकी सब का त्याग कर देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इसके भी पाँच अतिचार से बचना कर्त्तव्य है तथा दूषण लगे तो पश्चाताप करना। यह व्यवहार से व्रत है, तथा निश्चय से शरीर, धनादि में मूर्छा न रहना ही अपरिग्रह व्रत है।

६—दिशि परिमाण गुण व्रत—दसों दिशाओं में व्यापार

तथा मौज शौक के लिये अमुक हद से अधिक न जायगे, ऐसे नियम रखने को कहते हैं। चिठ्ठी देना पुस्तकादि मगाने भेजने की यतना रख कर यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार से बचना चाहिये तथा दूषण लगने से पश्चाताप करना चाहिये। यह व्यवहार से व्रत है निश्चय से आत्म स्वरूप मे स्थिर रहना ही व्रत है।

७—भोगोपभोग विरमण गुणव्रत—अन्नादि जो एक बार भोगा जा सके उसे भोग, तथा वस्त्रादि जो बार-बार भोगा जाय उसे उपभोग कहते हैं, नित्य आवश्यकतानुसार उन वस्तुओं का सीमा बाँधना—चौदह नियम नित्य चितारना। श्रावक को माँस, मछली, जमीकन्द, अभक्ष्य एवं मदिरादि का त्याग रहता ही है, तथा रात्रिभोजन भी न करना चाहिये। १५ कर्मादानों को त्यागना चाहिये, यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इसके भी पाँच अतिचारों को टालकर व्रत पालना चाहिये। तरकारी, फलादि वनस्पतियाँ भी सीमित रखना चाहिये। यह व्यवहार से व्रत है, तथा निश्चय से स्व ज्ञानादि गुण में भोग उपभोग याने रमण करना है।

८—अनर्थ दण्ड विरमण-गुण व्रत—'विण खाये विन भोगवे फोकट कर्म बँधाय' आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करने से बचना, पापोपदेश देने से बचना, हिंसक कार्य में मदद न देना, तथा प्रमाद सेवन से एव विकथाओं से बचना चाहिये। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है, इनके भी पाँच अतिचारों से बचना चाहिये।

यह व्यवहार से व्रत है, तथा पुद्गलानन्दी न रहना तथा आत्म रमण ही निश्चय से व्रत है। यह ३ गुण व्रत, पाँच अणुव्रतों में गुण वृद्धि करते हैं।

६—सामायिक शिक्षा व्रत—गृहस्थ सवेरे तथा जब समय मिले दो घड़ी पर्यन्त करेमिभते पाठ पूर्वक एक आसन में बैठकर धार्मिक स्वाध्याय या ध्यान करते हैं, उसे व्यवहार सामायिक कहते हैं। निश्चय सामायिक का पहले वर्णन कर चुके हैं। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है।

(१) मन के १० दोष—अविवेक, यशलिप्सा, धन की चाह, व्रताभिमान, भय, निदान, फल में संशय, सकषायप्रवर्तन, अविनय, उत्कठता। सामायिक में इन मन के १० दोषों से बचना चाहिये।

(२) वचन के १० दोष—कुत्सित वचन, बिना विचारे बोलना, अपेक्षा रहित वचन, झलक देना, सूत्र पाठ सक्षेप, कलह, विकथा, हास्य, अशुद्ध पाठ, अधूरे शब्द बोलना। सामायिक में इनसे बचना चाहिये।

(३) काया के १२ दोष—उद्धतासन, चचलता, चचलदृष्टि, सावद्य प्रवृत्ति, सहारे से बैठना, हाथ-पैर फैलाना, आलस्य, अगुली आदिका कड़का निकालना, खुजाना, धोती, चद्दर के अलावा वस्त्र पहनना, निद्रा, चिन्तित रहना है, सामायिक में इनसे बचना चाहिये।

(४) निरादरता से, चपलता से, समायिक न करना चाहिये।

(६) स्मृति विहीन हो सामायिक न करनी चाहिये सामायिक व्रत के पांच अतिचारों का ध्यान रखकर सामायिक करे तथा दूषण लगने से सामायिक पारते समय "भयवदसणभद्दो" पाठ से पश्चाताप कर लेवें।

१०—देशावगासिक शिक्षाव्रत—गृहस्थ समय मिलने पर तीन से पन्द्रह सामायिक तक एक साथ ग्रहण कर स्वाध्याय या ध्यान करते हैं, यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के भी पाँच अतिचारों से बचकर व्रत पालना चाहिये।

११ पौषधोपवास शिक्षाव्रत—अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों म गृहस्थी के आरम्भ समारम्भ से बच कर साधु जीवन की शिक्षा के लिये तथा दिवारात्रि आत्मसाधन के लिये उपवास सहित पौषध करना, जिसमें दोनों वक्त प्रतिक्रमण, पडिलेहन, देववन्दन, स्वाध्याय तथा ध्यान विशेष रूप से करना चाहिये। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के भी पाँच अतिचारों से बचना चाहिये, दूषण लगे तो पश्चाताप करना चाहिये।

१२ अतिथि सविभाग-शिक्षाव्रत—आठ प्रहर पौषध के पारणे के दिन मुनिराज को बहराकर (देकर) जो-जो वस्तु वे लेवें उसीसे स्वय एकासना कर सतोष करना। साधु, साध्वी को आहार पानी देना, स्वामिवात्सल्य करना एव विशेष कर अभावग्रस्त श्रावक, श्राविका को भोजन वस्त्रादि यथाशक्ति देना। यह व्रत भी दो करण तीन योग से है। इस व्रत के पांच अतिचारों

से बचना कर्तव्य है। इन चारों व्रतों से मनुष्य को साधु जीवन की शिक्षा मिलती है, अतः इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार के १२, वीर्याचार के ३, सम्यक्त्व के ५, श्रावकाचार के ६०, पन्द्रह कर्मादानों के १५, सलेषणा व्रत के ५, कुल १२४ अतिचारों से बचना चाहिये, यदि दोष लगे तो प्रतिक्रमण में पश्चाताप करना कर्तव्य है।

बारह व्रत पालने में अशक्त मनुष्य को कम से कम सात व्यसन (बुरी आदतों) को अवश्य त्यागना चाहिये।

१—अनर्थक हिंसा के कार्य न करना, न कराना, न समर्थन करना। जैसे—शिकारादि करना तथा लोभ या द्वेषवश युद्धादि की घातादि करना।

२—विश्वासघात नहीं करना, जहाँ तक बन झूठ न बोलना।

३—चोरी न करना तथा किसी का धनादि नहीं हड़पना।

४—वेश्या या पर स्त्री आदि से सम्भोग नहीं करना।

५—घुड़दौड़, जूआदि नहीं खेलना।

६—मांस, मछली तथा मदिरादि सेवन नहीं करना।

७—नीति अथवा धर्म विरुद्ध ऐसा कार्य न करना, जिस कार्य से लोक में निन्दा हो तथा राज से दण्ड मिले।

महा मोहनीय तीस स्थानक सज्झाय

सद्गुरु श्री सहजानन्द घन।

दोहा—निर्मोही पद माधवा, निमोही गुरुराज,
वंदू परम कृपालु ने, परा भक्तिए आज ।१।
भव अनेक अति दु खदा, रौद्र यतना जेह,
महा मोहनीय कर्म नु, शास्त्रे लक्षण एह ।२।
त्रीशस्थानक तेहना, शुद्ध भाव थी आज,
प्रतिक्रमण थी चढू, सहजानन्द जहाज ।३।

ढाल (रानीपद्मावती)

सक्लिष्ट चित्ते मैं हण्या, त्रस जीवों ना प्राण,
पाद घाते नल डुबवी, पहेलूँ ए मोह ठाण,
ते मुझ मिच्छामि दुक्कड ।१।
आर्द्र चमार्दिक शस्त्र थी, तोड्या अंग उपंग,
विरि मानव बध बधने, बीजा भेदनो मग। ते मुझ० ।२।
निर अपराधी प्रमादिना, गुँगडावी ने मुख,
त्रिजे प्राणा अपहस्या, दीधा असह्य दु ख। ते मुझ० ।३।
धिखती धराना व्यूह थी, वन्हि धूम्र प्रयोगे,
जीव अनंता मैं हण्या, मोह तुर्यना योगे ।ते मुझ० ।४।
कल्लमाने कूरता धरी, घड शीष विडारी
पचम स्थाने हु थयो घोर पाप आचारी ।ते मुझ० ।५।
छट्ठे विषयोगादि थी, कीधा विश्वास घात,
निजने मार्या फैरने, थइ काल नो भ्रात ।ते मुझ० ।६।

भेद सप्तम अपलाप था, हा । हुँ गूढाचारी,
द्रव्य भाव प्राणों हण्या, थयो निन्हव शिकारी। तेमुग० ।७।
ऋषि घातादि पोतेकरी, परने दीधा मळर,
अष्टम स्थाने माहना, थया जड़ना मंद । ते मुक्त० ।८।
नवमे भूठी साखिये, कलह फेरते जोइश,
नारन्या विषयावह, हमी मुग्ध मरोह्या । ते मुक्त० ।९।
शरणागत सतापिया, दसमा मोहने योग,
सत्ता सामग्री भूपान्नी, ध्वसया तेहना भोग ।ते मुक्त० ।१०।
कुमार भावा दासशी, भोलावी कई कुमारी,
एकादशे मन्मथ वश, थयो बहु अत्याचारी ।ते मुक्त० ।११।
द्वादश हुं लम्पट छतां, ब्रह्मचारी ना ढोले,
सतीआ भोळवर्वा भूक्यो, खर पन् गायो ना टोले ।ते मुक्त० ।१२।
जीवनदाता भूपादिनो, वित्त लोभे लोभायो
छल भेदे बची आत्मा, तेरम धायो । ते मुक्त० ।१३।
निज दारिद्र हता तणी, नजली स्थिति ने जोई,
दु ख दीधा अपकारिए, चौद मे थयो द्रोह। ।ते मुक्त० ।१४।
गुरु, नृप, सेठ भर्तारनी, नागणीवत् चिंती घात,
शिष्य, मत्री, भृत, स्त्रीपणे, पदर मे ठाणे पात । ते मुक्त० ।१५।
प्रजावत्सल नृप नायको, हा मैं माया मूढ धी,
निर्दयपण कुल थंभने, सालमे थया क्रोधी ।ते मुक्त० ।१६।
सत्तर मे भव सिन्धु मध्ये, भ्राता द्वीपनी जेम,
गणधरादि उपदेशको, माया आणी न रेम ।ते मुक्त० ।१७।

रक्षक जीव छरायना, माध्यादि बलात्कारे,
धर्मभ्रष्टता थी गयो, अष्टादश मे द्वारे। ते मुक्त० ।१८।
अनंत ज्ञानी निर्देशना, बोल्यो अवरणवाद,
एकोनविंशति मोहथी, लाग्यो नास्तिक मतवाद। ते मुक्त० ।१६।
निर्दूषण जिन मार्ग ने, निन्दी वीशमे ठाणे,
भोला जीव भरमावीने, जोड्या कुपथ अन्नाण। ते मुक्त० २०।
श्रुत चारित्र दाता गुरु, निन्दा तेहनी कीधी,
एकवीशमां ठाणे वरी, पासत्थादिक ऋद्धि। ते मुक्त० ।२१।
उपकारी गुरु वृन्दनी, नकरी सेवा दुभावे,
अविवेहलना अति आचरी, बावीस में अहभावे। ते मुक्त० ।२२।
ठाण त्रेवीस मोह छाकथी, महा मूढ अन्नाणी,
अनुयोगधर श्रुतधारी छु, जाहेर माँ वधोवाणी। ते मुक्त० ।२३।
चोवीस मे मोह गृद्ध हुँ, खान पान मा भारे,
तपसी नाम धरावीने, अशनादिक लुट्याचारे। ते मुक्त० ।२४।
वयावच्च वृद्ध, ग्लानीनी, न करी छती शक्तिए,
चीन विमुखता पच्चीसमे, लोभाई प्रति भक्तिए। ते मुक्त० ।२५।
छव्वीसमें तीर्थ भेदिका, राज्यादिक विकथा चारे,
हिंसक शास्त्र रचनादि थी, बाध्या धम जे भारे। ते मुक्त० ।२६।
वशीकरणादि प्रयोग थी, जीवो पीडाव्या क्षोभे,
सत्तावीस ठाणे चढ्यो, आत्म श्लाघानां लोभे। ते मुक्त० ।२७।
अठावीस क्षण स्थायीजे, पच अक्षना भोग,
लोभायो हुँ जग ऐठमां, पाम्यो भ्रान्त्यादिक रोग। ते मुक्त० ।२८।

सातिशयमय देवर्द्धि, धरी अश्रद्धा तेमा,
निन्दा करी मतिमन्द में, गोह्य ओगणत्रीशमा । ते मुक्त० ।२६।
हू जिन देवो ने जोऊँ छु, बोल्यो वृथा अपलाप,
श्रीराम गोशालक पणे, हा ! हा ! किधा में पाप । ते मुक्त० ।३०।
स्थान तीस महा मोहना, मैं सेव्या वारम्वार,
भवो भवमां ममता, हा ! हा ! हजी तेमा छे प्यार । ते मुक्त० ।३१।
उपसहार —अधमाधम घोर पापीयो, कुल क्षपण दीन,
पामर एक पतित हूँ, पर परिणते लीन । हाथ धरो प्रभुमांहरो ।३२।
अशरण भावे आथडु नाहीं सद्गुणनो अश,
सहायकारी जग को नहीं, नाती जाति के वश । हाथ धरो० ।३३।
पतित उद्धारक तातनी, करुणालु कृपावत,
शरणे आव्यो छु हू ताहरे, परम गुरु भगवन्त । हाथ धरो० ।३४।
छोडावो मुक्त मोह फन्दथी, मारु चाले ना जोर,
महेर नजर करो बापजी, म्हारी तुम हाथे दोर । हाथ धरो० ।३५।
आप सामे हूं पडिक्कमुं मोह वृन्द ने आज,
वर सवर क्रियाधीन थई, पामु शिव नगरी राज । हाथ धरो० ।३६।

कलश —पडिक्कमु सद्गुरु राज सामो, मोहराय पदावली,
योग क्रिया फल त्रय अवचक, भाव अधीनताभली ।
करी एकता निज सत्वमां उन्ये अव्यापकता धरी,
सवर सधे कृत्य-कृत्य, सहजानन्द मन्दर मां वरी ।

ॐ शान्ति ।

ॐ नम

चौवीश जिन चैत्यवन्दन, स्तवन-सग्रह

दर्शन देव देवस्य, दर्शन पाप नाशनम्,
दर्शन स्वर्ग सोपान, दर्शन मोक्ष साधनम्।
प्रभु दर्शन सुख सपदा, प्रभु दर्शन नव निधि,
प्रभु दर्शन से पामीये, सकल मनोरथ सिद्धि।
प्रभु नामे सुख संपजे, प्रभु नामे दुःख पलाय,
प्रभु नामे भव भय टले, प्रभु नामे अक्षय सुख थाय।
भावे जिनवर पूजीये, भावे दीजे दान,
भावे भावना भाविये, भावे केवल ज्ञान।
मगल भगवान् वीरो, मगल गोतम प्रभु,
मगल स्थूलिभद्राद्या, जैन धर्मास्तु मगलम्।

१—श्री ऋषभदेव जिन चैत्यवदन—श्री सहजानन्द कृत

सिद्ध बुद्ध प्रगटाववा, प्रणमुं आदि जिणन्द,
अशुद्ध योग ग्रण तजी, प्रशस्त राग अमद ॥१॥
केवल अधातम थकी, तप जप क्रिया सव,
भवोपाधि भ्रम नवि टले, वधे गुरुता गर्व ॥२॥
कारण वत्तारोपथी, पराभक्ति प्रगटाय,
दोष टले दृष्टि खुले, सहजानन्द घन थाय ॥३॥

१—श्री ऋषभ जिन स्तवन (१) श्री आनन्दघन कृत (राग मारु)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहुं रे कत ॥
रीझया साहेब सग न परिहरे रे, भागे सादिअनत ॥ ऋषभ ॥१॥
प्रीतसगाईरे जगमा सहु करे रे, प्रीतसगाई न कोय ॥

प्रीतसगाईरे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खाय ॥ ऋषभ ॥२॥ कोई कंतकारण काष्ठ भक्षण करेरे, मिलसु कंतने धाय॥ ए मेलो नवि कहिये संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ ॥३॥ कोई पतिरंजन अति घणु तप करे रे, पतिरंजन तन ताप॥ ए पतिरंजन मे नवि चित्त धर्युं रे, रंजन धातु मिलाप॥ ऋषभ ॥४॥ कोइ कहे लीलारे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश॥ दोषरहितन लीला नवि घटे रे, लीला दोष विलास ॥ऋ०॥५॥ चित्तप्रसन्नेरे पूजन फल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह॥ कपट रहित थइ आतम अरपणा रे, आनन्दघन पद रेह॥ ऋ० ॥६॥

१—श्री ऋषभदेव जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्र कृत

ऋषभ जिणंदशुं प्रीतडी। किम कीजे हो कहो चतुर विचार। प्रभूजी जइ अलगा वस्या। तिहाँ किण नवि हो कोई वचन उचार। ऋषभ० ॥१॥ कागल पण पहोंचे नहीं। नवि पहोंचे हो तिहाँ को परधान॥ जे पहोंचे ते तुम समो। नवि भाखे हो कोईनुं व्यवधान। ऋ० ॥२॥ प्रीति करे ते रागिया। जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग॥ प्रीतडी जेह अरागीथी। मेलववी ते लोकोत्तरमाग ॥ऋ० ३॥ प्रीति अनादिनी विष भरी। ते रीते हो करवा मुज भाव॥ करवी निर्विष प्रीतडी। किण भाँते हो कहो बने बनाव। ऋ० ४॥ प्रीति अनंती परथकी। जे तोड़े हो ते जोड़े एह॥ परम पुरुषथी रागता। एकत्वता हो दाखी गुण गेह ॥ऋ० ५॥ प्रभुजीने अवलंबतां। निज प्रभुता हो प्रगटे

हाराँ विविध धर्ममत अनुसरी रे, विविध स्वाँग प्रतधार।
होम हवन तप जप करी करी पच्यारे, लह्यो न मिलन प्रकार।
चारे खुँट मी तीरथ फर्यारे, नहाया यमुना गंग।
वेद वेदांग पुराण पठे कर्यारे, पण सौ विफल तरंग। कहां०।
सुमति कहे मति श्रद्धा सांभलोरे, प्रियतम हृदय मझार,
राग तनी चिद् धातु शुद्ध करोरे, स्वामि प्रकृति अनुसार। कहां०।
उपयोगे उपयोग एकत्वतारे, ए पति मिलन प्रकार,
अभिन्न मगन चेतन चेतना रे, सहजानन्द घन सार। कहां०।

२—श्री अजितनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

अजित रिपुगण जीतवा, वदु नाथ अजित।
विलोकुं तुम पथ प्रभु, यूथ भ्रष्ट मृगरात ॥१॥
अन्ध परम्पर धर्म रत, आगम तर्क विचार।
तजी भाव योगी भजत, प्रगट बोध निरधार ॥२॥
अनुभवी सन्त-तीर्थमां, ध्येये भेद न कोय।
सत्पुरुषार्थे सेवता, सहजानन्द घन होय ॥३॥

३—श्री अजित जिन स्तवन (१)—श्री आनन्दघन (आशावरी)

पंथड़ो निहालुरे बीजा जिनतणोरे, अजित अजितगुण धाम ॥ जे ते जीत्यारे तेणे हूँ जीतिओ रे, पुरुष किस्यु मुज नाम ॥पंथ०१॥ चरमनयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार। जेणेनयणे करी मारग जोइये रे, नयण ते दिव्य विचार। पंथ०। पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे, अन्धोअन्ध पलाय ॥ वस्तु विचारेरे जो आगमेंकरी रे, चरण धरण नहीं ठाय ॥ पंथ॥

तर्क विचारे रे वाद परंपरा रे, पार न पहुँचे कोय।
अभिमते वस्तु रे, वस्तुगते ग्रहे रे, ते विरला जग जोय ॥पथ०॥४॥
वस्तु विचारे रे, दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्या निरधार ॥
तरतम जोग रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार ॥पथ० ५॥
काललब्धि लही पथ निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब ॥ ए जन जीवे
रे जिनजी जाणजोरे, आनन्दघन मत अंब ॥ पथ० ६ ॥

२—श्री अजित जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्रजी

ज्ञानादिक गुण संपदा रे। तुज अनन्त अपार ॥ ते सांभलता
उपनीरे। रुचि तेणें पार उतार ॥ अजित जिन तारजो रे। तारजो
दीनदयाल अजितजिन तारजो रे। १ ॥ जे जे कारण जेहनुं रे।
सामग्री संयोग। मिलता कारज नीपजे रे। करता तण प्रयोग ॥
अजित० २ ॥ कार्य सिद्धि करता वसुरे। लहि कारण संयोग।
निज पद कारक प्रभु मिल्यारे। होय निमित्तह भोग। अजित० ३
अज कुलगत केसरी लहेरे। निज पद सिंह निहाल ॥ तिम प्रभु
भक्ते भवि लहेरे। आतम शक्ति संभाल ॥ अजित ४ ॥ कारण
पद कर्तापणेरे। करी आरोप अभेद ॥ निजपद अर्थी प्रभु थकीरे
कर अनेक उमेद ॥ अजित ॥ ५ ॥ एहवा परमातम प्रभुरे। पर-
मानन्द स्वरूप ॥ स्याद्वाद सत्ता रसीरे। अमल अखण्ड अनूप ॥
अजित० ६ ॥ आरोपित सुख भ्रम टल्यारे। भास्या अव्याबाध ॥
समर्युं अभिलाषी पणुरे। कर्ता साधन साध्य ॥ अजित० ७
ग्राहकता स्वामित्वतारे। व्यापक भोक्ता भाव ॥ कारणता कारज
दशारे। सकल ग्रह्युं निज भाव ॥ अ० ८। श्रद्धा भासन रमण

३—श्री सभव जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्र कृत (धणरा ढाला)

श्री सभव जिनराजनीरे। ताहरु अकल स्वरूप॥ जिनवर पूजो॥ स्वपर प्रकाशक दिनमणीरे। समता रसनो भूप॥जि०१॥ पूजा पूजारे भविक जन पूजो। हारे प्रभु पूज्यो परमानन्द॥ जि०॥टेक॥ अविसवाद निमित्त छोरे। जगत जतु सुखकाज॥जि०॥ हेतु सत्य बहु मानथीरे। जिन सेव्यां शिवराज॥ जि० २॥ उपादान आतम सहीरे। पुष्टालबन देव। जि०॥ उपादान कारणपणरे। प्रगट करे प्रभु सेव॥ जि० ३॥ कार्य गुण कारण पणेरे। कारण कार्य अनूप॥ जि०॥ सकल सिद्धता ताहरीरे। माहरे साधन रूप॥ जि० ४॥ एकवार प्रभु वन्दनारे। आगम रीते थाय॥ जि०॥ कारण सत्ते कार्यनीरे। सिद्धि प्रतीत कराय॥ जि० ५॥ प्रभु पणे प्रभु ओलखीरे। अमल विमल गुण गेह॥ जि०॥ साध्य दृष्टि साधकपणरे। वदे धन्य नर तेह॥ जि० ६॥ जन्म कृतारथ तेहनारे। दिवस सफल पण तास॥ जि०॥ जगत शरण जिन चरणनेरे। वद धरिय उल्लास जि०॥७॥ निज सत्ता निज भावथीरे। गुण अनतनो ठाण॥ जि०॥ देवचन्द्र जिनराजनीरे। शुद्ध सिद्ध सुख खाण॥जि० ८॥

४—श्री अभिनन्दन जिन चैत्यवदन—श्री सहजानन्द कृत

स्तु वेस स्याद्वादमय अनेकान्त शिव शाम,
स्वानुभूति कारण परम, अभिनन्दन तुज धाम॥ १॥
नय आगम मन-हेतु, विपवाद थकी नवि गम्य,
अनुभव सत हृदय वसे, तास सुधाम सुगम्य॥ २॥

असत निश्रा भ्रान्तिदा, टाली सकल स्वछंद,
सत कृपाए पामीए, सहजानन्द घन कंद ॥ ३ ॥

४—श्री अभिनंदन जिन स्तवन—श्री आनन्दघन कृत (धन्याश्री)

अभिनन्दन जिन दरशण तरसिये, दरशण दुलभ देव ॥
मतमत भेदे रे जा जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव ॥ अभि० ॥१॥
सामान्ये करी दरशन दोहिलूं, निर्णय सकल विशेष ॥ मदमें
घेर्या रे अंधो किम करे, रविशशि रूपविलेख ॥ अ० ॥ २ ॥
हेतु विवादेहो चित्तधरि जोइये, अतिदुरगम नयवाद ॥ आगम
वादेहो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ॥ अ० ॥ ३ ॥
घाती डुंगर आडा अतिघणा, तुज दरशण जगनाथ ॥ धीठाई
करी मारग संचरूं, संगू कोई न साथ ॥ अभि० ॥ ४ ॥
दरशण दरशण रटतो जो फिरूं, तो रणरोझ समान ॥
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान ॥ अभि ॥५॥
तरस न आवेहो मरणजीवन तणो, सीझे जो दरशण काज ॥
दरशण दुलभ सुलभ कृपाथकी, आनन्दघन महाराज अभि० ॥६॥

(५) *श्री सुमतिनाथ जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत*

आतम अर्पणता करूं, सुमति चरण अविकार ।
बाह्यान्त्य गुरू अर्पणा, धर्म मूर्त्ता धार ॥१॥
इन्द्रिय नोइन्द्रिय थकी, पर उपयोग प्रचार,
प्रत्याहारी स्थिर करो, सत स्वरूप विचार ॥२॥
आत्मार्पण सदुपायए, सहजानन्द घन पक्ष,
सहज आतम स्वरूप जे, परम गुरुए प्रत्यक्ष ॥३॥

(५) *श्री सुमति जिन स्तवन—श्री आनंदघन (वसंत या केदारो)*

सुमति चरणकज आतम अरपणा, दरपणजिम अविकार। सुग्यानी॥ मतितरपण बहु सम्मत जाणिये, परिसरपण सुविचार। सुग्यानी सु० ॥१॥ त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा, बहिरातम धुरिभेद। सुग्यानी। बीजो अन्तर आतम तीसरो, परमातम अविच्छेद सुग्यानी। सु०॥२॥ आतमबुद्धेहो कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप। सुग्यानी। कायादिक नो ही साखीधर रह्यो, अन्तर आतम रूप। सुग्यानी।सु०॥३॥ ज्ञानानंदेहो पूरण पावनो, वरजित सकल उपाधि।सुग्यानी। अतींद्रिय गुण गण मणि आगरू, इम परमातम साध। सुग्यानी॥सु०॥४॥ बहिरातम तजी अन्तरआतमा, रूप थई थिर भाव। सुग्यानी। परमातम नु हो आतम भावनु, आतम अरपण दाव। सुग्यानी ॥सु०॥५॥ आतम अरपण वस्तु विचारता, भरम टले मतिदोष। सुग्यानी। परम पदारथ सम्पत्ति सपजे, आनन्दघन रस पोष। सुग्यानी ॥सु० ॥६॥

(६) *श्री पद्मप्रभु जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत*

सत्ताए सम ते छता, तुज मुज अन्तर केम ?
अहो! पद्मप्रभू कहो, सहजे समझु तेम ॥१॥
व्यतिरेक कारण ग्रही, हु भूल्यो निज भान,
अन्वय कारण सेवता, प्रगटे सहज निधान ॥२॥
अन्वय हेतु ज्यां प्रगट, ते सताधीन मेव,
ज्योति झलहले, सहजानन्दघन देव ॥३॥

(६) *श्री पद्मप्रभु जिन स्तवन—श्री आनंदघन (राग सिंधु)*

पद्मप्रभजिन तुज मुज आतरु रे, किम भांजे भगवंत ॥ करमविपाके कारण जाइने रे, कोइ कहे मतिमत ॥ पद्म० ॥१॥ पयई ठिई अणुभाग प्रदेशथी रे, मूल उत्तर बहु भेद ॥ घाती अघाती बंधुदय उदिरणा रे, सत्ता करमविच्छेद ॥ पद्म० ॥२॥ कनकोपल वत् पयडि पुरुषतणीरे, जोडी अनादिस्वभाव । अन्यसजोगी जिहांलगे आतमारे, ससारी कहेवाय । पद्म० ॥३॥ कारणजोगेहो बांधे बंधने रे, कारण मुगति मुकाय ॥ आश्रव संवर नाम अनुक्रमे रे, हेयोपादेय सुणाय ॥ पद्म० ॥४॥ युंजनकरणे अन्तर तुज पड्यो रे, गुणकरण करी भंग ॥ ग्रन्थउक्तेकरी पंडितजन कह्यो रे, अंतरभंग सुअंग ॥५॥ तुजमुज अंतर अंतर भांजसे रे, बाजसे मंगल तूर ॥ जीवसरोवर अतिशय वाधसे रे, आनंदघन रस पूर ॥ पद्म० ॥६॥

(७) *श्री सुपारस जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत*

सहज सुखीनी सेवना, अवर सेव दुःख हेत,
घननामी सत्ता अहो । सुपारस प्रभु संकेत ॥१॥
पारस मणीना फरसथी, लोहाकंचन होय,
पण पारसता नविलहे, तीनू काले जोय ॥२॥
सुपारस प्रभू सेवथी, सेवक आप समान,
अनुभव गम्य करी लहो, सहजानन्द घन स्थान ॥३॥

(७) *श्री सुपार्श्व जिन स्तवन—श्री आनंदघन (सारंग)*

श्री सुपासजिन वन्दिये, सुख संपत्तिनो हेतु । ललना ॥ शांत-

सुधारस जलनिधि, भवमागरमां सेतु। ललना। श्रीसुपा० ॥१॥ सात महाभय टाल्नो, सप्तम जिनवरदेव। ललना॥ सावधान मनसा करी, धारो जिनपद सेव ललना। श्रीसुपा०॥२॥ शिव शंकर जगदीश्वर, चिदानन्द भगवान। ललना॥ जिन अरिहा तीर्थंकर, ज्योतिस्वरूप असमान। ललना। श्री सुपा० ॥ ३ ॥ अलख निरंजन वच्छलू, सकलजंतु विसराम। ललना॥ अभयदान दाता सदा, पूरण आतमराम। ललना। श्रीसुपा० ॥४॥ वीतराग मद कल्पना रतिअरति भयसाग। ललना॥ निद्रातंद्रा दुरदसा, रहित अबाधितयोग ललना। श्रीसुपा०॥५॥ परमपुरुष परमातमा, परमेश्वर परधान। ललना॥ परमपदारथ परमेष्ठि, परमदेव परमान। ललना। श्रीसुपा० ॥ ६ ॥ विधि विरंचि विश्वम्भर, हृषिकेश जगनाथ। ललना॥ अघहर अघमोचन धणी। मुक्ति-परमपदसाथ। ललना। श्रीसुपा० ।७॥ एम अनेकअभिधा धरे अनुभवगम्य विचार। ललना॥ जेह जाणे तेहने करे, आनन्दघन अवतार। ललना श्रीसुपा० ॥८॥

(८) *श्री चन्द्रप्रभ जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत*

सुण अलि। शुद्ध चेतने। चन्द्रवदन जिनचन्द,
तू सेवे सवा गता, निशदिन सौख्य अमन्द ॥१॥
काल अनादिय मूढमति, पर परिणति रति लीन
सत प्रभूनी सेवना, न लही सुदृष्टि हीन ॥२॥
सखि। कृपाकर प्रभू तणा, मागु दर्शन आज,
वरणीये, सहजानन्दघन राज ॥३॥

(८) श्रीचन्द्रप्रभ जिन स्तवन (१)—श्रीआनन्दघन (केदारो)

देखणदे रे सखी मुने देखणदे। चन्द्रप्रभ मुख चन्द। सखी०। उपशम रसनो कन्द। सखी०। गत कलिमल दुखदन्द। सखी०॥१॥ सुहुमनिगोदे न देखिओ। स०। बादर अतिहि विशेष। स० पुढवी आउ न लेखियो। स०। तेउ वाउ न लेश। स०। च०॥२॥ वनसपति अतिघणदिहा। स०। दीठो नहीय दीदार। स०। बि ति चउरिन्दी जललिहा। स०। गतिसन्नी पण धार। स०। च०॥३॥ सुरतिरि निरयनिवासमां स०। मनुज अनारज साथ। स०। अपज्जता प्रतिभासमां। स०। चतुर न चढीओ हाथ। स०। च ॥४॥ एम अनेक थल जाणिये। स०। दरसण विण जिनदेव। स०। आगमथी मत जाणिये। स०। कीजे निरमल सेव। स०। च०॥५॥ निरमल साधु भक्ति लही। स०। योग अवचक होय। स०। किरिया अवचक तिम सही स०। फल अवचक जोय स० च०॥६॥ प्रेरक अवसर जिनवरू। स०। मोहनीय क्षय जाय। स०। कामित पूरण सुरतरू। स०। आनन्दघन प्रभु पाय स०। च०॥७॥

(८) श्री चन्द्रप्रभ जिन स्तवन (२)—श्री देवचन्द्र कृत

श्री चन्द्रप्रभ जिन पद सेवा। हुवाय जे हलियाजी॥ आतमगुण अनुभवथी मलिया। ते भव भयथी टलियाजी॥श्री० १॥ द्रव्य सेव वदन नमनादिक। अर्चन वलि गुण ग्रामोजी॥ भाव अभेद थवानी इहा। पर भावे निःकामीजी॥ श्री० २॥ भाव सेव अपवादे नैगम। प्रभु गुणने सङ्कल्पेजी॥ सग्रह सत्ता तुल्या-

रोपे। भेदा भेद विकल्पेजी ॥श्री० ३॥ व्यवहारे बहु मान ज्ञान निज। चरणे जिन गुण रमणाजी ॥ प्रभु गुण आलम्बी परिणामे। ऋजु पद ध्यान स्मरणाजी ॥श्री० ४॥ शब्दे शुक्ल ध्यानारोहण। समभिरूढ गुण दशमेनी ॥ बीय शुक्ल अविकल्प एकत्वे। एवंभूत ते अममेनी ॥ श्री० ५ ॥ उत्सर्गे समकित गुण प्रगट्यो। नैगम प्रभुता अंशेनी ॥ संग्रह आतम सत्तालम्बी। मुनि पद भाव प्रशंसेनी ॥ श्री० ६ ॥ ऋजुसूत्रे जे श्रेणि पदस्थे। आतम शक्ति प्रकाशेनी ॥ यथाख्यात पद शब्द स्वरूपे। शुद्ध धर्म उल्लासेनी ॥ श्री० ७ ॥ भाव सयोगी अयोगी शैलेसी। अंतिम दुगनय नाणोनी ॥ साधनताए निजगुण व्यक्ति। तेह सेवना वखाणोनी श्री० ८॥ कारण भाव तेह अपवादे। कार्यरूप उत्सर्गेनी ॥ आत्म भाव ते भाव द्रव्य पद। बाह्य प्रवृत्ति निसर्गेनी ॥ श्री० ९॥ कारण भाव परम्पर सेवन। प्रगटे कारज भावोनी ॥ कारज सिद्धे कारणता व्यय। शुचि परिणामिक भावोनी ॥ श्री० १०॥ परमगुणी सेवन तन्मयता। निश्चय ध्याने ध्यावेजी ॥ शुद्धातम अनुभव आस्वादी। देवचन्द्र पद पावेजी॥ श्री० ११॥

९—श्री सुविधि जिन चैत्यवन्दन—श्री सहजानन्द कृत।

उभये शुचि भावे भजी, पूजत सुविधि जिनेश,
प्रसन्न चित्त आणा सहित, स्वस्वरूप प्रवेश ।१।
अग अग्र ए निमित्त छे, उपादान छे भाव,
प्रतिपत्ति पूजा तिहाँ, प्रगटे शुद्ध स्वभाव ।२।
शुद्ध स्वभावी सजनी, सेव वरी लही मर्म,
स्वरूप सेवन थी लग्न, सहजानन्द घन धर्म ।३।

९—श्री सुविधि जिन स्तवन—श्री आनन्दघन (केदारो)

सुविधि जिनेसर पाय नमीने, शुभकरणी एम कीजेरे॥ अतिघणो उलट अंग धरीने, प्रह ऊठी पूजीजे रे॥ सुवि०॥ १॥ द्रव्य भावशुचि भाव धरीने, हरसें देहरे जइये रे॥ दह तिग पण अहिगम साचवतां, एकमना धुरि थइये रे॥ सु०॥ २॥ कुसुम अक्षतवर वास सुगंधी, धूप दीप मनसाखी रे॥ अंग पूजा पणभेद सुणी एम, गुरुमुख आगम भाखीरे॥ सु०॥३॥ एह नु फल दोय भेद सुणीजे, अनन्तरने परपररे॥ आणापालण चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमंदिररे॥सु०॥४॥ फूल अक्षत वर धूप पइवो, गंध नैवेद्य फल जल भरीरे॥ अंग अग्र पूजा मिली अडविध, भावे भविक शुभगति वरीरे॥ सु०॥ ५॥ सत्तर भेद एक्वीस प्रकारे, अष्टोत्तरशत भेदेरे॥ भाव पूजा बहुविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदेरे॥सु०॥६॥ तुरियभेद पडिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगीरे॥ चउहा पूजा इम उत्तरझयणे, भाखी केवल भोगीरे॥ सु०॥ ७॥ इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभ-करणीरे॥ भविकजीव करसे ते लेसे, आनन्दघनपद धरणीरे॥८॥

१०—श्री शीतल जिन चैत्यवदन—श्री सहजानन्द कृत

भासे विरोधाभास पण, अविरोधी गुणवृन्द,
शीतल हृदये ध्यावतां, प्रगट परमानन्द ।१।
स्वरूप रक्षण कारणे, कोमल तीक्षण भाव,
उदासीन पर द्रव्य थी, रहीये तेज स्वभाव ।२।
शुद्ध स्वरूपा भासना, अनन्य कारण सत,
सहजानन्द घन प्रभु भजी, करो भवोदधि अंत ।३।

१०—श्री शीतल जिन स्तवन—श्री आनंदघन (धन्यासरीगोडी)

शीतलजिनपति ललितत्रिभंगी, विविधभंगी मनमोहेरे ॥ करुणा कोमलता तीक्षणता, उदासीनता सोहेरे ॥ शी० ॥१॥ सव जंतु हितकरणी करुणा, कर्मविदारण तीक्ष्णरे ॥ हानादान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षणरे ॥शी० ॥२॥ परदुखछेदन इच्छा करुणा, तीक्षण परदुख रीझरे ॥ उदासीनता उभय विलक्षण, एकठामे केम सीझरे ॥ शी० ॥३॥ अभयदान ते मलक्षय करुणा, तीक्षणता गुण भावेरे ॥ प्रेरणविणुकृत उदासीनता, इम विरोध-मति नावेरे ॥शी० ॥४॥ शक्ति व्यक्ति त्रिभुवनप्रभुता, निग्रथता सयोगेरे ॥ योगी भोगी वक्ता मौनी, अनुपयोगि उपयोगेरे ॥ शी० ॥ ५॥ इत्यादिक बहुभंग त्रिभंगी, चमत्कार चित्तदेतीरे ॥ अचरिजकारी चित्रविचित्रा, आनन्दघन पद लेतीरे ॥शी० ॥६॥

११—श्री श्रेयांस जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

भाव अध्यातम पथमयी, श्रेयांस सेवाधार,
हठयोगादि परिहरी, सहज भक्तिपथ सार ।१।
देह आत्म किरिया उभय, भिन्न म्यान असि जेम,
जड किरिया कर्तृत्व तज, भज निज किरिया प्रेम ।२।
ज्ञानादि गुणवृन्द पिंड, 'सोहं' अजपा जाप,
सत कृपा थी पामीये, सहजानन्दघन आप ।३।

११—श्री श्रेयांस जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोड़ी)

श्रीश्रेयांसजिन अंतरजामी, आतमरामी नामीरे ॥ अध्यातम-मत पूरणपामी, सहज मुगतीगतिगामीरे ॥ श्रीश्रे० ॥ १॥ सयल-

समारी इन्द्रियरामी, मुनिगुण आतमरामीरे, मुख्य पणे जे आतमरामी, ते केवल निःकामीरे ॥ श्रीश्रे० ॥ २॥
निजस्वरूप जे किरियासाधे, तेह अध्यातम लहियेरे॥ जे किरियाकरि चउगतिसाधे, ते न अध्यातम कहियेरे ॥श्रीश्रे० ॥३॥ नाम अध्यातम ठवणअध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडोरे॥ भाव अध्यातम निजगुणसाधे, तो तेहसु रढ मंडोरे॥ श्रीश्रे० ॥ ४ ॥ शब्दअध्यातम अरथसुणीने, निरविकल्प आदरजोरे॥ शब्द अध्यातम भजना जाणी, हानग्रहण मति धरजोरे॥ श्रीश्रे० ॥५॥ अध्यातम ज वस्तुविचारी, बीजा जाण लबासीरे॥ वस्तुगते जे वस्तुप्रकासे, आनन्दघन मतवासीरे॥६॥ श्री श्रे०॥

१२—श्री वासुपूज्य जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत

वासुपूज्य जिन सेवना, ज्ञान करमफल बाध,
करम करमफल नासिनी, सेवो भवोदधि पाज ।१।
निज पर शुद्धि कारणे, भजिए भेद विज्ञान,
निज निज परिणति परिणमे, प्रगटे केवल ज्ञान ।२।
स्वरूपाचरणी श्रमण ने, द्रव्यलिंग नहीं काम,
भेद ज्ञान पुरुषार्थ थी, सहजानन्द घन ठाम ।३।

१२—श्री वासुपूज्य जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोडी)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घननामी परनामीरे॥
निराकार साकार सचेतन, करम करमफल कामीरे ॥वासु० ॥१॥
निराकार अभेद संग्राहक, भेदग्राहक साकारोरे॥
दरशनज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारोरे॥ वासु० ॥२॥

पकज़रे, टीनो गुणमकरन ॥ रकाणे भदरधरारे, इद चढ नागिंद । वि० । दी० ॥ ३ ॥ साहिब समरथ तु धणीरे, पाम्यो परम उदार ॥ मन विसरामी वालहोरे, आतमचो आधार । वि० । दी० ॥ ४ ॥ दरशणदीठे जिनतणोरे, सशय न रहे वेध ॥ दिनकर करभर पसरतारे, अन्धकार प्रतिषेध । वि० । दी० ॥५॥ अमीय भरी मूरति रचीरे, उपमा न घटे कोय ॥ शांतसुधारस मीलतीरे, निरखत तृपति न होय । वि० । दी० ॥ ६ ॥ एक अरज सेवक तणीरे, अवधारो जिनदेव ॥ कृपाकारी मुझ दीजीयेरे, आनन्द धन पद सेव । वि० । दी० ॥७॥

१४—श्री अनंत जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

अनन्त जिणद पद सेवना, अलख अगम अनूप,
शक्र चक्री पण ना लहे, जे अनेकान्त स्वरूप । १ ।
मत मठधारी लिंगिया, तप जप रत एकांत,
गच्छवर जैनातीत सत, पररंगी चित्त भ्रान्त । २ ।
अलख अधीन छे सतने, ताम सेव धरी नेह,
अनेकान्त अेकान्तथी, सहजानन्द घन रेह । ३ ।

१४—श्री अनंतनाथ जिन स्तवन—श्री आनन्दघनकृत

धार तरवारनी सोहली दोहिली, चउदमा जिनतणी चरण सेवा ॥ धारपर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धारपर रहे न देवा ।धा० १। एक कहे सेविये विविध किरियाकरि, फल अनेकांत लोचन न देखे। फल अनेकान्त किरियाकरी बापडा, रडवडे चारगतिमांहि लेखे ।धा० २। गच्छना भेद्बहु नयण निहालता,

तत्वनी वात करतां न लाजे ॥ उदर-भरणादि निजकाजकरता थकां, मोह नडिया कलिकालराजे ।धा० ३। वचननिरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचनसापेक्ष व्यवहार साचो ॥ वचननिरपेक्ष व्यवहार ससारफल, सांभली आदरी कांइ राचो ।धा० ४। देवगुरुधर्मनी शुद्धि कहो किम रहे, किम रहे शुद्धश्रद्धान आणो ॥ शुद्धश्रद्धान विण सर्वकिरियाकरि, छारपर लीपणो तेह जाणो ।धा० ५। पापनहीं कोई उत्सूत्र भाषाणजिसो, धम नहीं कोइ जग सूत्रसरिखो ॥ सूत्रअनुसार जे भविक किरियाकरे, तेहनो शुद्ध चारित्र परखो ।धा० ६। एह उपदेशनो सार सक्षेपथी, जे नरा चित्तमें नित्य ध्यावे ॥ ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत आनंदघनराज पावे ॥धा० ७॥

१५—श्री धर्मनाथ जिन चैत्यवदन—श्री सहजानंद कृत

धम मर्म जिन धर्मनो, विशुद्ध द्रव्य स्वभाव,
स्वानुभूति विण साधना, सकल अशुद्ध विभाव ॥१॥
तप जप सयम खप थकी, कोटी वरसो जाय,
ज्ञानानन अजित नयन, विण नवि ते परखाय ॥२॥
दिव्य नयण धर मतनी, कृपा लहे जो कोय,
तो सहेजे कारज सधे, सहजानन्द घन सोय ॥३॥

१५—श्री धम जिन स्तवन—श्री आनंदघन (गोडी सारग)

धरमजिनेसर गाउं रंगसु, भग म पडसो हो प्रीत ।जिनेसर।
बीजो मनमदिर आणु नहीं, ए अम कुलवट रीत। जि० धर्म १।
धरमधरमकरतो जग सहु फिरे, धरम न जाणे हो मर्म। जि०।

धरमजिनेसरचरण ग्रह्यां पछी, कोइ न बाधे होकर्म। जि० धर्म २।
प्रवचन अजन जो सद्गुरु करे, देखे परमनिधान। जि०।
हृदयनयण निहाले जगधणी, महिमा मेरुसमान। जि० धम०।३।
दोडतदोडत दोडत दोडीओ, जेती मननी रे दोट। जि०।
प्रेमप्रतीत विचारो दूकडी, गुरुगम लेजोरे जोड जि० धर्म०।४।
एकपखी केम प्रीति वरे पड, उभय मिल्या होय सधि। जि०। तु
रागी हु मोहे फदिओ, तु निरागी निरबंध। जि०। धर्म० ५
परमनिधान प्रगट मुखआगले, जगत उलघी हो जाय। जि०।
ज्योतिविना जुओ जगदीशनी, अधोअध पुलाय। जि० धर्म०।६।
निरमल गुणमणि रोहण भूधरा, मुनिजन मानसहस। जि०।
धन्य ते नगरी धन्य वेला घडी मातपिता कुलवंश। जि० धर्म०
।७। मन मधुकरवर करजोडी कहे, पदकज निकट निवास। जि०।
घननामी आनन्दघन सांभलो, ए सेवक अरदास।जि०।धर्म० ८।

१६—*श्री शांतिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानंद कृत*

सेवो शान्ति जिणद भवि। शान्त सुधारस धाम,
प्रवर रसे आधीन जे, तेथी सरे न काम ॥१॥
शान्त भाव विण ना लहे, शुद्धस्वरूपाभ्यास,
लवण महासागर जले, कदी न बुझे प्यास ॥२॥
तेथी शान्त स्वरूपनो, सतत करो अभ्यास,
सहजानन्दघन उल्लसे, सताश्रयण वास ॥३॥

१६—*श्रीशांति जिनस्तवन—श्री आनन्दघन (मल्हार)*

शान्तिजिन एक मुज वीनती, सुणो त्रिभुवन राय रे। शांति

स्वरुप किम जाणिये, कहो मन किम परचायरे ।शांति०।१। धन्य तु आतम जेहने, एहवो प्रश्न अवकाश रे। धीरज मन धरी साभलो, कहु शान्ति प्रतिभासरे। शांति० ।२। भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे,कह्या श्रीजिनवर देवरे। ते तेम अवितथ्य सद्दहे प्रथम एशांतिपद सेवरे। शांति०।३। आगमधर गुरु समकित्ती, किरिया सवर साररे। सम्प्रदायी अवचक सदा, सुची अनुभव आधारे। शांति०।४। शुद्ध आलबन आदरे तजी अवर जजालरे। तामसीवृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्त्विकी सालरे। शांति० ५। फल विसवाद जेमां नहीं, शब्द ते अर्थ सम्बन्धि रे। सकल नयवाद व्यापि रह्यो, ते शिव साधन सधिरे। शान्ति० ।६। विधि प्रतिपेध-करी आतमा, पदारथ अविरोध रे। ग्रहणविधि महाजने परिग्रह्यो, एहवो आगमे बोधरे। शान्ति० ।७। दुष्टजन सगति परिहरी, भजे सुगुरुसतान रे। जोगसामर्थ्य चित्तभाव जे, धरे मुगति निदान रे। शान्ति० ।८। मान अपमान चित्त समगणे, समगणे कनक पाषाण रे। वदक निंदक समगणे एहवो होय तु जाण रे। शान्ति० ।९। सर्व जगजतुने समगणे, गणे तृणमणि भाव रे। मुक्ति-ससार बेहु समगणे, मुणेभवजलनिधि नाव रे। शान्ति० ।१०। आपणो आतमभावजे एक चेतनाधार रे। अवर सविसाथ सयोगथी, एह निज परिकर सार रे। शान्ति० ।११। प्रभुमुखथी एम सांभली, कहे आतमराम रे। ताहरे दरसणे निस्तर्यो मुज सिध्या सवी काम रे। शान्ति० ।१२। अहो अहो हु मुजने कहुं, नमो मुज नमो मुज रे। अमित फल दानदातारनी जेहथी भेटथई

तुज रे ॥शान्ति० ॥१३॥ शान्ति स्वरूप संक्षेपथी, कह्यो निजपरूप रे। आगम मांहे विस्तारघणो, कह्यो शान्तिजिन भूप रे। ॥ शांति० ॥१८॥ शान्तिसरूप एम भावसे, धरी शुद्ध प्रणिधानरे। आनन्द घन पद पामसे, ते लहसे बहुमान रे ॥ शान्ति० ॥१६॥

१७—श्री कुंथनाथ जिन चैत्यवदन—श्री सहजानन्द कृत

कुन्थु जिन मुनने कह्यो, मन वश करण उपाय,
जे विण शुभ करणी सहु, तुस खण्डन सम थाय ॥१॥
अजपा जाप आहार दई, सास दोरड़ बांध,
निसदिन सोवत जागते, एह लक्षने साध ॥२॥
अथवा सनाधीन था, अवर न कोई इलाज,
गुरुगम सेवत पामीये, सच्चानन्द घन राज ॥३॥

१७—श्री कुंथ जिन स्तवन आनदघन कृत (गुर्जरी)

मनडु किमही न बाम्हे हो कुन्थुजिन मनडु किमही न बाम्हे। जिमजिम जतन करिने राखु, तिमतिम अलगु भाजे हो। कु० ॥१॥ रजनीवासर वसतीउजड गयण पायाले जाय। साप खायने मुखडु थोथु, एह उखाणो न्याय हो॥ कु० ॥२॥ मुगतितणा अभिलाषी तपीया, ज्ञानेध्यान अभ्यासे। वयरीडु कांइ एहवु चिंते नाखे अवले पासे हो ॥ कु० ॥३॥ आगम आगमधरने हाथे, नावे किणविधि आंकु। किहांकणे जो हठकरी हटकु, तो व्याल तणीपरे वांकुहो कु० ॥४॥ जो ठग कहुतो ठगतो न देखु, साहुकार पण नाहीं। सर्वमाहेने सहुथी अलगु, ए अचरिज मनमांहीहो। कु० ॥५॥ जे जे कहुते कान न धारे, आपमते रहे कालो। सुर

नर पण्डितजन समजावे, समजे न माहरो सालोही कु० ॥६॥ मैं जाण्यु ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले। बीजीवाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेले हो। कु० ॥७॥ मनसाध्यु तेणे सघलु साध्यु, एह वात नहीं खोटी। एम कहे साध्यु ते नविमानु, एकही वातछे मोटीहो। कु० ॥८॥ मनडु दुराराध्य त वश आण्यु, ते आगमथी मतिआणु। आनन्दघन प्रभु माहरु आणो, तो साचु करा जाणुहो। कु० ॥९॥

१८—श्री अरनाथ जिन चैत्यवदन—श्री सहजानंद कृत

स्वसमय अभ्यासीने, द्रव्यदृष्टि धरी लक्ष,
तदनुकूल पर्यय करी, अरनाथ धर्म प्रत्यक्ष ॥१॥
भेद दृष्टि व्यवहरण करी, थई अभेद निज द्रव्य,
निर्विकल्प उपयोगथी, परम धम लहो भव्य ॥२॥
परमधर्म छे ज्यां प्रगट, सद्गुरु सतनी सेव,
सहजानन्दघन पामवा, पुष्टालम्बन देव ॥३॥

१८—श्री अरनाथ जिन स्तवन—श्री आनंदघन (राग परज)

धरम परम अरनाथनो, किम जाणु भगवंतरे। स्वपरसमय समजावियं, महिमावंत महंत रे ॥ ध० ॥ १ ॥ शुद्धातम अनुभव सदा स्वसमय एह विलासरे। परवडी छांहडी जेह पडे ते पर समय निवासरे ॥ ध० ॥ २ ॥ तारा नक्षत्र ग्रह चंदनी, ज्योति दिनेश मझाररे, दरशन ज्ञानचरणथकी, शक्ति निजातम धाररे। ध० ॥३॥ भारी पीलो चीकणो, कनक अनेक तरंगरे। पर्यायदृष्टि न दीजिये, एकज कनक अभंगरे। ध० ॥४॥ दरशण

ज्ञान चरणथकी, अलख सरूप आधरे। निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एकरे। ध० ॥५॥ परमारथ पथ जे कहे, ते रंजे एक ततरे। व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनन्तरे। ध० ॥६॥ व्यवहारे लख दोहिला, कांइ न आवे हाथरे। शुद्ध नय थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथरे। ध० ॥७॥ एम कही प्रीतनी, तुममाये जगनाथरे। कृपाकरीने राखजो, चरणतले ग्रही हाथरे। ध० ॥८॥ चक्री धरमतीरथ तणो, तीरथ फल तत्त साररे। तीरथ सेवे ते लहे, आनन्दघन निरधाररे। ध० ॥९॥

१९—श्री मल्लिनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द घन

घाति घातक मल्लिजिन दोष अढार विहीन,
अवर सदोषी परिहरी, धाओ जिन गुण लीन ॥१॥
जिनगुण निजगुण समथछे, जिन सेव्ये निज सेव,
प्रगट गुणी सेवन थकी, प्रगटे स्वस्वरूप देव ॥२॥
दोष अदोषी परखीये, सनाश्रय धरी नेह,
तो सहेजे निपजावीये, सहजानन्द घन गेह ॥३॥

१९—श्री मल्लि जिन स्तवन—श्री आनन्दघन कृत (रागनी)

सेवक किम अवगणियेहो, मल्लिजिन, ए अब शोभा सारी। अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारीहो। मल्लि० ॥१॥ ज्ञानस्वरूप अनादि तमारु, ते लीधुं तमे ताणी। जुओ अज्ञानदशा रीसाणी, जातां काण न आणी हो। मल्लि० ॥२॥ निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरिय अवस्था आवी। निद्रा सुपनदशा रीसाणी, जाणी न नाथ मनावीहो। मल्लि० ॥३॥ समकित साथे

सगाइ कीधी, सपरिवारसु गाढी । मिथ्यामति अपराधण जाणी, घरथी बाहिर काढीहो । मल्लि० ॥५॥ हास्य अरति रति शोक दुगछा, भय पामर करसाली । नोकषाय श्रेणीगज चढता, श्वान-तणी गति झालीहो । मल्लि० ५॥ रागद्वेष अविरतिनी परिणति, चरण मोहना याधा । वीतराग परिणति परणमता, उठी नाठा याधाहो । मल्लि० ॥.॥ वेदोदय कामा परिणामा, काम्यकर्म सहु त्यागी । निष्कामी करुणारससागर, अनंत चतुष्कपद पागीहो । मल्लि० ॥७॥ दानविघन वारी सहू जनने, अभयदान पद दाता । लाभविघन जगविघन निवारक, परम लाभ रसमाताहो । मल्लि० ॥८॥ वीर्यविघन पंडितवीर्ये हणी, पूरणपदवी योगी । भोगोपभोग दोयविघन निवारी, पूरण भोग सुभोगीहो । मल्लि० ॥९॥ ए अढारदूषण वरजित तनु, मुनिजनवृंदे गाया । अविरति रूपक दोष निरूपण, निरदूषण मन भायाहो । मल्लि० ॥१०॥ इणविधि परखी मनविसरामी, जिनवर गुण जे गावे । दीनबंधुनी महेर नजरथी, आनन्दघनपद पावहो । मल्लि० ॥११॥

२०—श्री मुनिसुव्रत जिन—चैत्यवदन-श्री सहजानंद कृत

आतमधम जणायछे, मुनिसुव्रतने ध्याई ।
बीजा मत दरशन घणा, पण त्यां तत्व न भाई ॥१॥
सत्संगी रंगीथई, धराये आतम ध्यान ।
सत्श्रद्धा लयलीनथई, तो प्रगटे सद्ज्ञान ॥ २ ॥
सद्ज्ञाने निज रमणमां, रमे आतम राम ।
रत्नत्रयीनो सहजानंद घन धाम ॥ ३ ॥

२०—श्री मुनिसुव्रत जिन स्तवन—श्री आनंदघन (काफी)

मुनिसुव्रतजिनराय एक मुजवीनति निसुणो। आतमतत्त्व क्यु जाण्यु जगतगुरु, एह विचार मुजकहियो। आतमतत्त्व जाण्याविण निरमल, चित्तसमाधि नविलहियो। मु० ॥ १॥ कोइ अबध आतमतत्त माने, किरिया करतो दीसे। क्रियातणु फल कहो कुणभोगवे, इमपूछ्यु चित्त रीसे मु० ॥२॥ जडचेतन ए आतम एकज, थावरजगम सरिखो। दु ख सुख शकर दूपण आवे, चित्तविचारी जो परिखो॥ मु०॥३॥ एकस्हे नित्यज आतमतत्त्व, आतम दरशण लीनो। कृतविनाश अकृतागम दूपण, नवी देखे मतहीना मु० ॥ ४ ॥ सौगनमतरागी कहे वादी, क्षणिक ए आतम जाणो। बधमोक्ष सुखदुख नवि घटे, एह विचार मनआणो मु० ॥ ५ ॥ भूतचतुष्क वर्जित आतमतत्त, सत्ता अलगी न घटे। अध शकट जो नजर न देखे, तो शु कीजे शकटे। मु० ॥ ६ ॥ एम अनेक वादी मतविभ्रम, सकट पडियो न लहे। चित्तसमाधि ते माटे पुछू, तुमविण तत्त कोइ न कहे। मु० ॥ ७ ॥ वलतु जगगुरु इणिपरे भाखे, पक्षपात सवछडी। राग द्वेष मोहपख वर्जित, आतमसु रढ मडी ॥ मु० ॥८॥ आतमध्यान करे जो कोउ, सो फिरइणमे नावे। वाक्जाल बीजु सहुजाणे, एह तत्त्व चित्त चावे मु० ॥ ९ ॥ जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत्त्वज्ञानी कहिये। श्रीमुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन पद लहिये ॥ मु० ॥ १० ॥

२१—श्री नमिनाथ जिन चैत्यवदन—श्री सहजानद कृत-

नास्तिकता तनी घ्याइये, सुगी थवा उपाय।
व्यवहार शुद्धि भेदथी, अभेद निश्चय पाय ॥ १ ॥
निश्चय थी सत्ता लही, व्यक्तता छे स्याय,
व्यक्त सुगी तन्मय भजन, परम सौख्यता थाय ॥ २ ॥
अनुक्रमे षट् दर्शनो, सद् विचारणा माय,
नमि जिणद कृपाथकी, सहजानन्द घन थाय ॥३॥

२१—श्रीनमिनाथ जिन स्तवन—श्री आनंदघन (आशावरी)

षटदरसण जिनअग भणीजे, न्यासषडग जो साधेरे। नमिजिनवरना चरण-पासक, षटदरशन आराधेरे षट०॥१॥ जिनसुरपादप पाय वखाणु, सांख्यजोग दोय भेदेरे। आतमसत्ता विवरणकरता, लहो दुगअग अखेदेरे ॥षट० ॥ २ ॥ भेदअभेद सुगत मीमांसक, जिनवर दोय करभारीरे। लोकालोक अवलबन भजिये, गुरुगमथी अवधारीरे। षट० । ३ ॥ लोकायतिक कूख जिनवरनी, अशविचारी जो कीजरे। तत्त्वविचार सुधारस धारा, गुरगम विणकिम पीजरे। षट ॥४॥ जैन जिनेश्वर वर उत्तमअग, अतरग बहिरंगेरे। अक्षरन्यास धरा अराधक, आराधे धरीसगेरे। षट० ॥ ५ ॥ जिनवरमां सघला दरशण छे, दरशने जिनवरभजनारे। सागरमां सघली तटिनी सही तटिनीमां सागरभजनारे। षट० ॥६॥ जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सही जिनवर होवेरे। भृ गी इलिकाने चटकावे, ते भृ गी जगनावेरे। षट० ॥७॥ चूरणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परपर अनुभवरे। समयपुरुषना अंग

मझाए, जे छेदे ते दुरभवरे। पट० ॥ ८ ॥ मुद्रा बीजधारणा अक्षर, न्यास अरथ विनियोगेरे। जे ध्यावे ते नवि वचीजे, क्रिया अवचक भोगेरे। पट० ॥ ६ ॥ श्रुतअनुसार विचारी बोलु सुगुरु तथाविध न मिलेरे। किरियाकरी नवि साधी सकीये, ए विषवाद चित्त सघलेरे। पट० ॥ १० ॥ ते माटे ऊभा करजोडी, जिनवर आगल कहीयेरे। समय चरणसेवा शुद्ध देजो, जिम आनन्दघन लहीयेरे ॥ २१ ॥

२२, श्री नेमिनाथ जिन चैत्यवदन—श्री सहजानद कृत

वीतरागता पामवा, नेमि चरित्र अभ्यास।
ज्ञानी छता जाने चन्द्रा, राग सततीए खास॥ १ ॥
एकवार रागे बध्या, छूटे निरला काय।
माटे राग न कीजिये, वीतराग विण जोय ॥ २ ॥
स्वामि सेवक भावथी, राजुल नमि सेव,
सहजानन्द घनता थया, नमु नेमीश्वर देव ॥ ३ ॥

२२, श्री नेमिनाथ जिन स्तवन (१)—श्री आनदघन कृत (मारुणी)

अष्ट भवांतर वालही रे, तु मुज आतमराम। मनरावाला। मुगतिस्त्रीसु आपणरे, सगपण कोइ न काम। म० ॥ १ ॥ घर-आवो हो वालम घरआवो, मारी आशा ना विशराम। म०। रथफेरो हो साजन रथफेरो, साजन मारा मनोरथ साथ ॥ म० ॥२॥ नारी पखो स्यो नेहलोरे, साच कहे जगनाथ ॥म०॥ ईश्वर अरधगे धरीरे, तु मुज झाले न हाथ। म० ॥ ३ ॥ पशु-जननी करुणा करीरे, आणीहृदय विचार ॥ म० ॥ माणसनी

कण्णा नहीं रे, एक कुण घर आचार। म० ॥ ४ ॥ प्रेम कल्पतरु छेदीयारे, घरियो जोग धतूर। म०। चतुराइरो कुण कहारे, गुरु मिलियो जग सूर। म० ॥ ५ ॥ मारु तो एमाँ क्यु ही नहींरे, आप विचारो राज ॥म०॥ राजसभामें बेसतारे, किसड़ी वधसी लाज। म० ॥ ६ ॥ प्रेमकरे जग जनसहुरे, निरवाहे ते ओर। म०। प्रीतकरीने छोडी देरे, तेसु न चाले जोर। म० ॥ ७ ॥ जो मनमा एव्हु हतुरे, निसपत करत न जाण ॥ म० ॥ निसपकरीने छांडतारे, माणस हुवे नुक्सान ॥ म० ॥ ८ ॥ देता दान समस्तरीरे, सहु लहे वछितपोष। म०। सेवक वछित नवी लहेरे, ते सेवकनो दोष। मन० ॥ ९ ॥ सखी कहे ए सामलो रे, हु कहुँ लक्षण सेत। म०। इण लक्षण साची सखीरे, आप विचारो हेत। म० ॥ १० ॥ रागीसु रागी सहुरे, वैरागी स्यो राग ?। म०। राग विना किम दाखवोरे, मुगतिसुन्दरी माग। म० ॥ ११ ॥ एकगुह्य घटतु नथीरे, सघलाई जाणे लोक। म०। अनेकांतिक भोगवोरे, ब्रह्मचारी गतरोग। म० ॥ १२ ॥ जिण जोनी तुमने जोउरे, तिण जोणी जुओ राज। म०। एकवार मुजने जुओरे, तो सीझे मुझ काज। म० ॥ १३ ॥ मोहदशा धरी भावनारे, चित्त लहे तत्त्वविचार। म०। वीतरागता आदरीरे, प्राणनाथ निरधार। म० ॥ १४ ॥ सेवक पण ते आदरेरे, तो रहे सेवक माम। म०। आशयसाथे चालीयेरे, एहीज रूडु काम। म० ॥ १५ ॥ त्रिविध योग धरी आदर्योरे, नेमिनाथ भरतार। म०। धारण पोषण तारणोरे, नव रस मुक्ताहार। म० ॥ १

कारणरूपी प्रभु भज्यारे, गण्यो न काज अकाज। म०। कृपा-
करी गुन दीजियेरे, आनन्द घन पद राज। म० ॥ १७ ॥

२२, श्री नेमिनाथ जिन स्तवन (२)—श्री चिदानंद कृत

परमातम पूरण कला, पूरण गुण हो पूरण जन आस।
पूरण दृष्टि निहालिये, चित्त धरियेहो अमची अरदास। पर० ॥१॥
सब देश घाति सहु, अघाति हो करी घात दयाल।
वास कियो शिव मंदिरे, मोहे विसरी हो भमतो जगजाल। ॥२॥
जगतारक पदवी लही, तहि-तारया हो अपराधी अपार।
तात कहो मोहे तारतां किम कीनी हो इन अवसरे वार। पर०॥३॥
मोह महामद छाकथी, मैं छकिया हो नांही सुध लगार।
उचित सही इण अवसर, सेवकनी हो करवी सम्भाल। पर०॥४॥
मोह गयां जो तारसो, तिनवेला हो कहाँ तुम उपकार।
सुख वेला सज्जन घणा, दुःख वेला हो विरला संसार पर० ॥५॥
पण तुम दरशन योगथी, थयो हृदये तो अनुभव प्रकाश।
अनुभव अभ्यासी करे, दुःखदायी हो सहु कर्म विनाश। पर०॥६॥
कर्म कलङ्क निवारीने, निज रूप हो रमे रमता राम।
लहत अपूरव भावथी, इण रीते हो तुम पद विश्राम। पर० ॥७॥
त्रिकरण योगे वीनवु, सुखदायी हो शिवादेवी ना नन्द।
चिदानन्द मनमें सदा, तुम आवो हो प्रभु ज्ञानदिनंद। पर० ॥८॥

२३—श्रीपार्श्वनाथ जिन चैत्यवंदन—श्री सहजानन्द कृत

कमठ उपसर्गे अचल, जिन मुद्रा प्रभु थिर।
द्वेष सतती फल नीरसना, कीजे मनन गम्भीर ॥१॥

(२)

प्रणमु पद पकज पार्श्वना, जस वासना अगम अनूपरे। मोह्यो मन मधुकर जेहथी, पामे निज शुद्ध स्वरूपरे ॥प्रणमु० ॥१॥ पक कलक शका नहि, नहीं खेदादिक दु ख दोषरे। त्रिविध अवचक जोगथी, ल्हे अध्यातम सुख पोषरे। प्रणमु ॥२॥ दूरदशा दूरे टले,भजे मुदिता मैत्रि भावरे वरते नित्य चित्त मध्यस्थता,करुणामय शुद्ध स्वभावरे। प्रणमु ॥३॥ निज स्वभाव थिर कर धरे, न करे पुद्गलनी खचरे। साखी हुई वरते सदा, न कदा परभाव प्रपचरे। प्रणमु० ॥४॥ सहज दशा निश्चय जगे, उत्तम अनुभव रसरगरे। राचे नहीं परभावसु,निज भावशु रग अभग रे। प्रणमु ॥५॥ निजगुण सब निजमा लखे, न चखे परगुणनी रेखरे। खीर नीर-विवरो करे, अनुभव हस सुपेखरे। प्रणमु ॥६॥ निर्विकल्प ध्येय अनुभवे, अनुभव अनुभवनी प्रीत रे। औरन कबहु लखी शके, आनदघन प्रीत प्रतीत रे। प्रणमु ॥७॥

२१ श्री पार्श्वनाथ जिन स्तवन (३) श्री सहजानद कृत

जिन मुद्राधर पास, तजी पर आश, ऊभा निज ध्याने, अहिछत्रा नगर उद्याने। जिन० ॥१॥ शठकमठ दस भवनो धरतो, मेघमाली क्रोधे झलहलतो उपसर्ग करे जल धारे, रही नभ छाने। अहिछत्रा० ॥२॥ तन्मय निज शुद्ध स्वभाव ढल्या, उपसर्ग नासाग्र निमग्न छता न चल्या। रह्या देहे विदेही भाव, खड्ग जेम म्याने। अहिछत्रा० ॥३॥ आसन कपे अहिपति आवे, ऊचकीफणा छत्र सिरे ठावे। प्रियायुत प्रभु गुण गान करे एक ताने। अहिछत्रा० ।४॥ वदक निंदक समभाव अहा, ज्ञाता

हग्ग शुद्ध भाव महा। उदये अणव्यापक साक्षी रह्या निज भावे। अहिद्विना ।५। विषम भाव छे ससार तती, समभाव धर्यो स्वरूप गति। कृत्य-कृत्य थया सहजानन्द दर्शन ज्ञान। अहिद्वजा० ॥६॥

२४—श्री महावीर जिन चैत्यवन्दन—श्रीसहजानद कृत

निज गुण ठरवा ध्याइये, चित्र चरित्र प्रभुवीर।

द्रव्य भाव निर्ग्रंथता, अहो! साधकता धीर ॥१॥

त साधन थी सिद्धता, अवर साधनाभास।

अहो! वीर पुत्रो धरो, साधन त्रिक अभिलाष ॥२॥

सत् शिक्षा मूर्ति भजो, त्यागी साध्याभास।

सहजानन्द घनता सधे, शुद्ध क्रिया अभ्यास ॥३॥

२४—श्री महावीर जिन स्तवन (?) श्री आनदघन (धनाश्री)

वीरजिनेश्वर चरणे लागु, वीरपणु ते मांगु रे। मिथ्या मोह तिमिर भयभाग्यु, जित नगारु वाग्यु रे। वी० ॥ १ ॥ छउमथ वीय लेश्यासगे, अभिसंधिज मति अगेरे। सूक्ष्म थूलक्रियाने रंगे, योगी थयो उमंगेरे। वी० ॥ २ ॥ असख्यप्रदेशे वीर्यअसखे, योग असंखित कखेरे। पुद्गलगण तेणे ले सुविशेषे, यथाशक्ति मति लेखेरे। वी० ॥ ३ ॥ उत्कृष्टे वीर्यनिवेसे, योग-क्रिया नवी पेसेरे। योगतणी ध्रुवताने लेसे, आतमशक्ति न खेसेरे। वी० ॥ ४ ॥ काम वीर्यवशे जिम भोगी, तिम आतम थयो भोगीरे। सूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेहने अयोगीरे। वी० ॥ ५ ॥ वीरपणु ते आतमठाणे, जाण्यु तुमची वाणेरे।

ध्यानविनाणे शक्तिप्रमाण, निज ध्रुवपद पहिचाणेरे। वी० ॥ ६॥ आलम्बन साधन जे त्यागे पर परिणतिने भागेरे। अक्षयदर्शन ज्ञानवैरागे, आनन्दघन प्रभु जागेरे। वी० ॥ ७ ॥

(२) वीर जिनेश्वर स्तवन— श्री आनन्दघन कृत

वीर जिनेश्वर परमेश्वर जयो, जगजीवन जिनभूप। अनुभव मित्तर चित्ते हित करी दाख्यु तास स्वरूप, ।वीर० ।१। जेह अगोचर मानस वचनने, तेह अतीन्द्रिय रूप। अनुभव मित्ते व्यक्ति शक्तिसूं, भाख्यु तास स्वरूप, ।वी० ।२। नय निक्षेप जेह न जाणीये, नवि जीहाँ प्रसरे प्रमाण। शुद्ध स्वरूपे ते ब्रह्म दाखवे, केवल अनुभव भाण ।वीर० ।३। अगम अगोचर अनुपम अर्थ ना, कोण करी जाणेरे भेद। सहज विशुद्धेरे अनुभव वयण जे, शास्त्र ते सवला रे खेद ।वीर० ।४। दिशी दखाड़ी रे शास्त्र सवी रहे, न लहे अगोचर बात। कारज साधक बाधक रहित जे, अनुभव मित्त विख्यात, वीर० ।५। अहो चतुराई रे अनुभव मित्तनी, अहो तस प्रीत प्रतीत। अंतरजामी स्वामी समीप ते, राखी मित्रसु रीत, ।वीर० ।६। अनुभव संगेरे रंगे प्रभु मल्या, सफल फल्या सविकाज। निजपद संपद जे ते अनुभव, आनन्द-घन महाराज वीर० । ७ ।

श्री महावीर जिन स्तवन (३) श्रीदेवचन्द्र कृत (कड़खानी देशी)

तार हो तार प्रभु मुज सेवक भणी, जगतमां एटलु सुजश लीजे ॥ दास अवगुण भर्यो जाणी पोता तणो। दयानिधि दीन पर दया कीजे ॥१ ता०॥ राग द्वेषे भर्या मोह वैरी नड्या। लोक

नी रीतमां घणुँए रातो ॥ क्रोध वश धमधम्यो शुद्ध गुण नवि रम्यो । भम्या भवमांहे हु विषय मातो ॥२ ता०॥ आदर्यो आचरण लोक उपचारथी शास्त्र अभ्यास पण कांइ कीधो ॥ शुद्ध श्रद्धान वली आत्म अवलंब विनु । तेहवो कार्य तेणे को न सीधो ॥३ता०॥ स्वामि दर्शन समो । निमित्त लही निमलो । जो उपादान ए शुचि न थासे ॥ दोष को वस्तुनो अहवा उद्यम तणो । स्वामि सेवा सही निकट लासे ॥४ ता०॥ स्वामि गुण ओलखी, स्वामिने जे भजे । दरिशन शुद्धता तेह पामे ॥ ज्ञान चारित्र तप वीर्य उल्लासथी । कर्म जीपी वसे मुक्ति धामे ॥५ ता०॥ जगतवत्सल महावीर जिनवर सुणी । चित्त प्रभु चरणने शरण वास्यो ॥ तारजो बापजी बिरुद निज राखवा, दासनी सेवना रखे जाशो ॥६ ता० ॥ विनती मानजो शक्ति ए आपजो । भाव स्याद्वादता शुद्ध भासे ॥ साधि साधक दशा । सिद्धता अनुभवे । देवचंद्र विमल प्रभुता प्रकाशे ॥ ७ ता० ॥

श्री महावीर जिन स्तवन (८) श्री यशोविजय कृत

गिरुआरे गुण तुम तणा, श्री वर्द्धमान जिनरायारे ।
सुणतां श्रवण अमीभरे, मारी निर्मल थाये कायारे । गिरु० १ ।
तुम गुण गण गगाजले, हु झीलीने निर्मल थाउं रे ।
अवर न धंधो आदरु निशिदिन तोरा गुण गाउंरे । गिरु० २ ।
झील्या जे गगाजले, ते छिल्लर जल नवि पेसे रे ।
जे मालती फूले मोहिया, ते बावल जई नवि बेसेरे । गिरु० ३ ।
एम अमे तुम गुण गोठशु, रंगे राच्याने वली माच्यारे ।
ते केम परसुर आदरु, जे परनारी वश राच्यारे । गिरुआ० ४ ।
तु गति तु मति आसरो, तु आलंबन मुज प्यारोरे ।
वाचक यश कहे माहरे, तु जीव जीवन आधारोरे । गिरु० ५ ।

विहरमान जिन बीसी—श्री देवचन्द्रकृत

१—श्रीसीमन्धर जिन स्तवन (सिद्धचक्र पद वंदो)

श्री सीमंधर जिनवर स्वामी, वीनतडी अवधारो। शुद्धधर्म प्रगट्यो जे तुमचो, प्रगटो तेह अमारो रे, स्वामी विनवीये मनरंगे ॥ १ ॥ जे परिणामिक धर्म तुमारो, तेहवो अमचो धर्म। श्रद्धाभासन रमण वियोगे, वलग्यो विभाव अधर्म रे, स्वामी ॥ वि० २ ॥ वस्तु स्वभाव स्वजाति तेहनो, मूल अभाव न थाय। पर विभाव अनुगत परिणति थी, कर्मे ते अवराय रे, स्वामी ॥ वि० ॥३॥ जे विभाव ते पण नैमित्तिक, संतति भाव अनादि। परनिमित्त ते विषय संगादिक, ते संयोगे सादि रे, स्वामी ॥ वि० ॥४॥ अशुद्धनिमित्ते ए संसरता, अत्ता कत्ता परनो। शुद्ध निमित्त रमे जब चिद्घन, कत्ता भोक्ता घरनो रे, स्वामी ॥ वि० ॥५॥ जेहना धर्म अनंता प्रगट्या, जे निज परिणति वरियो। परमातम जिनदेव अमोही, ज्ञानादिक गुण दरिया रे, स्वामी ॥ वि० ॥ ६ ॥ अवलम्बन उपदेशक रीते, श्रीसीमंधर देव। भजिये शुद्ध निमित्त अनोपम तजिये भव भय टेव रे, स्वामी ॥वि० ॥७॥ शुद्धदेव अवलंबन करतां, परहरिये परभाव। आतमधर्म रमण अनुभवता, प्रगटे आतम भाव रे, स्वामी ॥ वि० ॥ ८ ॥ आतम गुण निर्मल नीपजतां, ध्यानसमाधि स्वभावे। पूर्णानन्द सिद्धता साधी देवचन्द्र पद पावे रे, स्वामी ॥ वि० ॥ ९ ॥

७—श्री युगमधर जिन स्तवन (देशी-नारायणानी)

श्री युगमधर वीनवु रे, वीनतडी अवधार रे दयालराय। द परपरिणति रगधी रे, मुमने नाथ उगार रे ॥द० श्री० १॥ कारक ग्राहक भोग्यता रे, मैं कीधी महाराय रे ॥द० ॥ पण तुम सरिखा प्रभु सही रे, साची वात कहाय रे ॥द० श्री० २॥ यद्यपि मूळ स्वभावमें रे, परकर्तृत्व विभाव रे ॥द०॥ अस्ति धरम जे माहरो रे, एहनो तथ्य अभाव रे ॥द० श्री० ३॥ पर परिणामिकता दशा रे, लही पर कारण योग रे ॥द०॥ चेतनता परगट थई रे, राची पुद्गळ भोग रे ॥द० श्री० ४॥ अशुद्ध निमित्त तो जड धई रे, वीर्य शक्ति विहीन रे ॥ द० ॥ तूं तो वीरज ज्ञायी रे, सुख अनन्ते लीन रे ॥ द० श्री० ५ ॥ तिण कारण निश्चें कर्यो रे, मुझ निज परिणति भोग रे ॥ द० ॥ तुम सेवाथी नीपजे रे, भांजे भवभय सोग रे ॥ द० श्री० ६ ॥ शुद्ध रमण आनन्दता रे, ध्रुव निस्सग स्वभाव रे ॥ द० ॥ सकल प्रदेश अमूर्तता रे, ध्याता सिद्ध उपाय रे ॥ द० ॥श्री० ७॥ सम्यग् तत्त्व जे उपदिश्यो रे, सुणतां तत्त्व जणाय रे ॥ द० ॥ श्रद्धाज्ञाने जे ग्रह्यो रे, तेहिज कार्य कराय रे ॥ द० श्री० ८ ॥ कार्यरुचि कर्ता थये रे, कारक सवि पलटाय रे ॥ द० ॥ आतम गत आतम रमे रे, निज घर मगल थाय रे ॥ द० श्री० ९ ॥ त्राण शरण आधार छो रे, प्रभुजी भव्य सहाय रे ॥ द० ॥ देवचन्द्र पद नीपजे रे, जिन पदकज सुपसाय रे ॥ द० श्री० १० ॥

३—श्री बाहु जिन स्तवन ।

बाहुजिणंद दयामयी, वर्त्तमान भगवान ॥ प्रभुजी ॥ महाविदेहे विचरता, केवलज्ञान निधान ॥ प्र० बा० ॥१॥ द्रव्य थकी छकाय ने, न हणे जेह लगार ॥ प्र० ॥ भावदया परिणामनो, एहीज छे व्यवहार ॥ प्र० बा० २ ॥ रूप अनुत्तर देव थी, अनंत गुण अभिराम ॥ प्र० ॥ जोतां पण जगजंतु ने, न वधे विषय विराम ॥ प्र० बा० ३ ॥ कर्मउदय जिनराजनो, भविजन धर्म सहाय ॥ प्र० ॥ नामादिक संभारतां, मिथ्यादोष विलाय ॥प्र० बा० ४॥ आतमगुण अविराधना, भावदया भण्डार ॥प्र० ॥ क्षायिक गुण पर्याय मे, नवि पर धर्मप्रचार ॥ प्र० बा ५ ॥ गुण गुण परिणति परिणमे, बाधक भाव विहीन ॥ प्र० ॥ द्रव्य असंगी अन्य नो, शुद्ध अहिंसक पीन ॥ प्र० बा ६ ॥ क्षेत्रे सर्व प्रदेश मे, नहीं परभाव प्रसंग ॥ प्र० ॥ अतनु अयोगी भावथी, अवगाहना अभंग ॥ प्र० बा० ॥ ७ ॥ उत्पाद व्यय ध्रुव पणे, सहेजे परिणति थाय ॥ प्र० ॥ छेदन योजनता नहीं, वस्तु स्वभाव समाय ॥ प्र० बा० ८ ॥ गुण पर्याय अनन्तता कारक परिणति तेम ॥ प्र० ॥ निज निज परिणति परिणमे, भाव अहिंसक एम ॥ प्र० बा० ॥ ९ ॥ एम अहिंसकता मयी, दीठो तू जनराज ॥ प्र० ॥ रक्षक निज पर जीवनो तारण तरण जहाज ॥ प्र० बा० १० ॥ परमातम परमेसर, भावदया दातार ॥ प्र० ॥ सेवो ध्यावो एहने, देवचंद्र सुखकार ॥ प्र० बा० ११ ॥

रे ॥ म० ॥ ज्ञानादिक स्व परजाया, निजकार्य करण वरताया रे ॥ म० २ ॥ अश नय मार्ग कहाया, ते विकल्प भाव सुणाया रे ॥ म० ॥ नय चार ते द्रव्य थपाया, शब्दादिक भाव कहाया रे ॥म० ३॥ दुर्नय ते सुनय चलाया, एकत्व अभेदें ध्याया रे ॥म० ते सवि परमार्थ समाया, तसु वर्तन भेद गमाया रे ॥ म० ४ ॥ स्याद्वादी वस्तु कहीजें, तसु धर्म अनन्त लहीजे रे ॥ म०॥ सामान्य विशेषनु धाम, ते द्रव्यास्तिक परिणाम रे ॥ म० ५ ॥ जिनरूप अनत गणीजे, ते दिव्य ज्ञान जाणीजे रे ॥ म० ॥ श्रुत ज्ञानें नय पथ लीजे, अनुभव आस्वादन कीजे रे ॥ म० ६ ॥ प्रभु शक्ति व्यक्ति एक भावें, गुण सर्व रह्या समभाव रे म० ॥ माहरे सत्ता प्रभु सरखी, जिनवचन पसाय परखी रे ॥ म० ७ ॥ तू तो निज सपत्ति भोगी, हुं तो परपरिणतिनो योगी रे ॥ म० ॥ तिण तुम्ह प्रभु माहरा स्वामी, हु सेवक तुझ गुण ग्रामी रे ॥ म० ॥ ए सम्बन्धें चित्त समवाय, मुझ सिद्धिनु कारण थाय रे ॥ म० ॥ जिनराजनी सेवना करवी, ध्येय ध्यान धारणा धरवीरे ॥म० ८॥ तूं पूरण ब्रह्म अरूपी, तू ज्ञानानद स्वरूपी रे ॥ म० ॥ इम तत्त्वालंबन करीयें, तो देवचन्द्र पद वरीये रे ॥ म० १० ॥

६—श्री स्वयप्रभ जिन स्तवन ।

स्वामी स्वयप्रभने हो जाउ भामणे हरखे वार हजार। धम वस्तु पूरण जसु नीपनो, भाव कृपा करतार ॥१ स्वा० ॥ द्रव्य धम ते हो जोग समारवा, विषयादिक परिहार। आतमशक्ति स्वभावे सुधर्मनो, साधन हेतु उदार ॥ २ स्वा० ॥ उपशम भावे

हो मिश्र क्षायिक पण, जे निज गुण प्रागभाव। पूर्णावस्था नें निपजावती, साधन धर्म स्वभाव॥ ३ स्वा०॥ समकित गुण थी हो शैलेशी लगें, आतम अनुगत भाव। संवर निर्जरा हो उपादान हेतुता, साध्यालंबन दाव॥ ४ स्वा०॥ सकल प्रदेशें हो कर्म अभावता, पूर्णानन्द स्वरूप। आतम गुणनी हो जे सपूर्णता सिद्ध स्वभाव अनूप॥ ५ स्वा०॥ अचल अबाधित हो जे निस्संगता, परमातम चिद्रूप। आतमभोगी हो रमता निज पदें, सिद्धरमण ए रूप॥ ६ स्वा०॥ एहवो धर्म हो प्रभुने नीपन्यो, भाख्यो तेहवो धर्म। जे आदरता हो भवियण शुचि हुए, त्रिविध विदारी कर्म॥ ७ स्वा०॥ नाम धर्म हो ठवण धर्म तथा, द्रव्य-क्षेत्र तिम काल। भाव धर्मना हो हेतुपणे भला, तेह विना सहु आल॥ ८ स्वा०॥ श्रद्धा भासन हो तत्त्व रमण पण, करता तन्मय भाव। देवचन्द्र जिनवर पद सेवतां, प्रगटे वस्तु स्वभाव॥ ९ स्वा०॥

७—श्री ऋषभानन जिन स्तवन

श्री ऋषभानन वांदीयें, अचल अनन्त गुणवास। जिनवर। क्षायिक चारित्र भोगथी, ज्ञानानन्द विलास॥ जि०। श्री० १॥ जे प्रसन्न प्रभु मुख ग्रहे तेहिज नयन प्रधान। जि०। जिन चरणें जे नामीयें, मस्तक तेह प्रमाण॥ जि०। श्री० २॥ अरिहा पदकज अरचीयें, सलहीजें ते हत्थ। जि०। प्रभुगुण चिन्तन में रमे, तेहिज मन सुकयत्थ॥ जि० श्री० ३॥ जाणो छो सहु जीवनी, साधक बाधक भाँत। जि०। पण श्रीमुख थी साँभली, मन पामे निरांत॥ जि० श्री० ४॥ तीन काल जाणग भणी, शुं ...

वारम्वार। जि०। पूर्णानन्दी प्रभुतणु, ध्यान ते परम आधार ॥ जि० श्री० ५ ॥ कारणथी कारज हुवे, ए श्री जिनमुख वाण। जि०। पुष्टहेतु मुक्त सिद्धिना, जाणी कीध प्रमाण ॥जि० श्री० ६॥ शुद्ध तत्व निज सम्पदा, ज्यां लग पूर्ण न थाय। जि०। त्यां लगें जगगुरु देवना, सेवु चरण सदाय॥ जि० श्री० ७॥ कारण पूर्ण कर्या विना, कारण केम मुकाय। जि०। कारज रुचि कारण-तणा, सेवे शुद्ध उपाय ॥ जि० श्री० ८ ॥ ज्ञान चरण सम्पूर्णता, अव्यावाध अमाय। जि०। देवचन्द्र पद पामीयें, श्री जिनराज पसाय ॥ जि० श्री ९ ॥

८—श्री अनन्तवीर्य जिन स्तवन

अनन्तवीरज जिनराजनो, शुचि वीरज परम अनन्त रे। निज आतम भावे परिणम्यो, गुणवृत्ति वर्त्तनावन्त रे ॥ १ ॥ मन मोह्यु अम्हारु प्रभुगुण ॥ ए आंकणी ॥ यद्यपि जीव सहु सदा, वीर्यगुण सत्तावत रे। पण कर्मे आवृत चल तथा, वाल वाधक भाव लहत रे ॥ २ म० ॥ अल्पवीर्य क्षयोपशम अछे, अविभाग वर्गणा रूप रे। षड्गुण एम असरयथी, थाये योग स्थान सरूप रे ॥ ३ म० ॥ सुक्ष्म निगोदी जीवथी, जाव सन्नी वर पज्जत रे। योगनां ठाण असख्य छे, तरतम मोहे परायत्त रे ॥ ४ म० ॥ सयम ने योगें वीर्य ते, तुम्हें कीधो पंडित दक्ष रे। साध्य रसी साधकपणे, अभिसंधि रम्या जिनलक्ष रे ॥ ५ म० ॥ अभिसंधि अबधक नीपने, अनभिसंधि अबध थाय रे। स्थिर एक तत्त्वता वरततो, ते क्षायिक शक्ति समाय रे ॥ ६ म० ॥ चक्रभ्रमण न्याय

॥ ६ सू० ॥ ताहरी शूरता धीरता तीक्ष्णता, देखी सेवक तणो चित्त राच्यो। राग सुप्रशस्तथी गुणी आश्चर्यता, गुणी अद्भुत-पणे जीव माच्यो ॥ ७ सू० ॥ आतमगुण रुचि थये तत्त्व साधन रसी, तत्त्व निष्पत्ति निर्वाण थावे। देवचन्द्र शुद्ध परमातम सेवन थकी, परम आत्मिक आनन्द पावे ॥ ८ सू० ॥

१०—श्री विशाल जिन स्तवन।

देव विशाल जिणदनी, तमे ध्यावो तत्त्व समाधि रे। चिदा-नन्द रस अनुभवी, सहज अकृत निरुपाधि रे ॥१ स० ॥ अरिहत पद वदिये गुणवन्त रे। गुणवन्त अनन्त महत स्तवो, भवतारणो भगवन्त रे ॥ ए आंकणी ॥ भव उपाधि गद टालवा, प्रभुजी छो वैद्य अमोघ रे। रत्नत्रयी औषधि करी, तमे तार्या भविजन ओघ रे ॥ २ त० अ० ॥ भव समुद्र जल तारवा, निर्यामक सम जिन राज रे। चरण जहाजें पामीयें, अक्षय शिवनगरनु राज रे ॥ ३ अ० अ० ॥ भव अटवी अतिगहन थी, पारग प्रभुजी सत्थ वाह रे। शुद्धमारग दर्शकपणे, योग क्षेमकर नाह रे ॥ ४ यो० अ० ॥ रक्षक जिन छकायना, वलि मोहनिवारक स्वामि रे। श्रमण सघ रक्षक सदा, तेणे गोप ईश अभिराम रे ॥ ५ ते० अ० ॥ भाव अहिंसक पूर्णता, माहणता उपदेश रे। धर्म अहिंसक नीपनो, माहण जगदीश विशेष रे ॥ ६ मा० अ० ॥ पुष्ट कारण अरिहतजी, तारक ज्ञायक मुनिचन्द रे। मोचक सर्व भावथी, मीपावे मोह अरिन्द रे ॥ ७ मी० अ० ॥ काम कुम्भ सुरमणि परे, सहेजें उपगारी थाय रे। देवचन्द्र सुखकर प्रभु, गुण गेह अमोह अमाय रे ॥ गु० अ० ॥

दुषम काल निग्रपूरवधर विरहथी रे, दुलहा साधन चाली रे ॥ २ चन्द्रा० ॥ द्रव्य क्रिया रुचि जीवडा रे, भाव धरमरुचिहीन। उपदेशक पण तेहवा रे, शुं करे जीव नवीन रे ॥ ३ च० ॥ तत्त्वा गम जाणग तजी रे, बहु जन सम्मत जह । मूढ हठी जन आदर्या रे, सुगुरु कहावे तेह रे ॥ ४ च० ॥ आणा साध्य विना क्रिया रे, लोके मान्यो रे धर्म। दसन ज्ञान चारित्रनो रे, मूल न जाण्यो मर्म रे ॥ ५ च० ॥ गच्छ कदाग्रह साचवे रे, माने धर्म प्रसिद्ध। आतमगुण अकषायता रे, धर्म न जाणे शुद्ध रे ॥६॥ च० ॥ तत्त्व रसिक जन थोडला रे, बहुलो जन सम्वाद। जाणो छो जिन-राजजी रे, सघला एह विवाद रे ॥७ च०॥ नाथ चरण वदननो मन मां घणो उमंग। पुण्य विना किम पामिये रे, प्रभुसेवननो रंग रे ॥ ८ च० ॥ जगतारक प्रभु वदीए रे, महाविदेह मझार। वस्तुधर्म स्याद्वादता रे, सुणि करिये निर्धार रे ॥ ९ च० ॥ तुम करुणा सहू ऊपरे रे, सरखी छे महाराय। पण अविराधक जीवने रे, कारण सफलुं थाय रे ॥ १० च० ॥ एहवा पण भवि जीवने रे, देवभक्ति आधार। प्रभुसमरणथी पामीये रे, देवचन्द्र पद सार रे ॥ ११ च० ॥

१३—श्री चन्द्रबाहु जिन स्तवन

चन्द्रबाहुजिन सेवना, भव नाशिनी तेह। परपरिणतिना पासने, निष्कासन रेह ॥ १ च० ॥ पुद्गलभाव आशामना, उद्‌वासन केतु। सम्यग्‌दरशन वासना, भासनचरण समेतु ॥ २ ॥च० ॥ त्रिकरण योग प्रशासना गुणस्तवना रंग। वदन पूजन

हो, के प्रभु तुम धर्म रमी। आतम अनुभव थी हो, के परिणति अन्य थमी। तुझ शक्ति अनंती हो, के गातां ने ध्यातां। मुझ शक्ति विकासन हो, के थाये गुण रमतां ॥ ६ ॥ इम निज गुण-भोगी हो, के स्वामि भुजग मुदा। जे नित्य वदे हो, के ते नर धन्य सदा। देवचन्द्र प्रभुनी हो, के पुण्ये भक्ति सधे। आतम अनुभवनी हो, के नित्य शक्ति वधे ॥ ७ ॥

१५—ईश्वर जिन स्तवन

सेवो ईश्वर देव, जिणे ईश्वरता हो निज अद्भुत वरी। तिरोभावनी शक्ति, आविर्भावे हो सहु प्रगट करी ॥ १ ॥ अस्ति स्वादिक धर्म, निर्मल भावें हो सहुने सर्वदा। नित्यत्वादि स्वभाव ते परिणामी हो जड़चेतन सदा ॥ २ ॥ कर्त्ता भोक्ता भाव, कारक ग्राहक हो ज्ञान चारित्रता। गुणपर्याय अनंत, पाम्या तुमचा हो पूर्ण पवित्रता। ३ ॥ पूर्णानन्द स्वरूप, भोगी अयोगी हो उपयोगी सदा। शक्ति सकल स्वाधीन, वरते प्रभुनी हो जे न चले कदा ॥ ४ ॥ दोष विभाव अनन्त, नासे प्रभुजी हो तुम अवलम्बने। ज्ञानानंद महंत, तुम सेवाथी हो सेवक ने बने ॥ ५ ॥ धन्य धन्य ते जीव, प्रभुपद वंदी हो जे देशना सुणे। ज्ञान क्रिया करे शुद्ध, अनुभव योगे हो निज साधक पणे ॥ ६ ॥ वारवार जिनराज, तुम पद सेवा हो होजो निर्मली। तुम शासन अनुजाई, वासन भासन तत्त्वरमण वली ॥ ७ ॥ शुद्धातम निजधर्म, रुचि अनुभव-थी हो साधन सत्यता। देवचन्द्र जिनचन्द्र, भक्ति पसाये हो होशे व्यक्तता ॥ ८ ॥

१६—श्री नमिप्रभ जिन स्तवन।

नमिप्रभ नमिप्रभ प्रभुजी वीनवु होजी, पामी वर प्रस्ताव। जाणोछो जाणोछो विण विनवे होजी, तोपण दास स्वभाव ॥१ न० ॥ हु करता हु करता पर भावनो होजी, भोक्ता पुद्गलरूप। ग्राहक ग्राहक व्यापक एहनो होजी, राच्यो जड भव भूप ॥ २ ॥ न० आतम आतम धर्म विसारीय होजी, सेव्यो मिथ्या माग। आश्रव आश्रव बंधपणु कर्यु होजी, संवरनिर्ज्जर त्याग ॥ ३ ॥ न० ॥ जडचल जडचल कर्म जे देहने होजी, जाण्यु आतम तत्त्व। बहिरातम बहिरातम मे ग्रही होजी, चतुरंगे एकत्त्व ॥ ४ न० ॥ केवल केवलज्ञान महोदधि होजी, केवल दसणबुद्ध। वीरज वीरज अनंत स्वाभावनो होजी, चारित्र क्षायिक शुद्ध ॥ ५ न० ॥ विश्रामि विश्रामि निज भावना होजी, स्याद्वादी अप्रमाद। परमातम परमातम प्रभु देखता होजी, भागी भ्रांति अनाद ॥ ६ ॥ न० ॥ जिनसम जिनसम सत्ता ओलखी होजी, तसु प्रागभावनी ईह। अन्तर अन्तर आतमता लही होजी, परपरिणति निरीह ॥ ७ न० ॥ प्रतिछन्द प्रतिछन्द जिनराज ने होजी, करता साधक भाव। देवचन्द्र देवचन्द्र पद अनुभवे होजी, शुद्धात्तम प्रागभाव ॥ ८ न० ॥

१७—वीरसेन जिन स्तवन।

वीरसेन जगदीश, ताहरी परम जगीश। आज हो दीसे रे, वीरजता त्रिभुवनथी घणीजी ॥ १ ॥ अणहारी अशरीर, अक्षय अजय अति धीर। आज हो अविनाशी, अलेशी ध्रुव प्रभुता॰

थणीजी ॥ २ ॥ अतीन्द्रिय गतकोह, विगतमाय मद लोह। आज हो सोहे रे, मोहे जगजनता भणीजी ॥ ३ ॥ अमर अखंड अरूप, पूर्णानंद स्वरूप। आज हो चिद्रूपे दीपे, थिरता भता धणी जी ॥ ४ ॥ वेदरहित अकषाय, शुद्ध सिद्ध असहाय। *आज हो ध्यायक, नायकने ध्येयपदे ग्रह्यो जी* ॥ ५ ॥ दानलाभ निज भोग। शुद्धस्वगुण उपभोग। आज हो अजोगी, करता भोक्ता प्रभु लह्योजी ॥ ६ ॥ दरसण ज्ञान चारित्र, सकल प्रदेश पवित्र। आज हो निर्मल, निस्संगी अरिहा वंदिये जी ॥ ७ ॥ देवचन्द्र जिनचन्द्र, पूर्णानन्दनो वृन्द। आज हो जिनवरसेवाथी, चिर आनन्दीयें जी ॥ ८ ॥ ॥

॥ १८—श्री महाभद्र जिन स्तवन ॥

महाभद्र जिनराज, राजविराजे हो आज तुमारडोजी। क्षायिकवीर्य अनंत, धर्म अभंगे हो तु साहिब वडोजी ॥१॥ हु० ॥ बलिहारी रे श्री जिनवरतणी रे। कर्त्ता भोक्ता भाव, कारक कारण हो तु स्वामी छताजी। ज्ञानानन्द प्रधान, सर्व वस्तुनो हो धर्म प्रकाशतो जी ॥२॥ हुं० ॥ सम्यग्दर्शन मित्त, स्थिर निर्द्धार रे अविसंवादता जी। अव्याबाध समाधि, कोश अनश्वरे रे, निज आनन्दता जी ॥ ३ ॥ हुं० ॥ देश असंख्य प्रदेश, निजनिज रीते रे गुण संपत्ति भर्या जी। चारित्र दुर्ग अभंग आतम शक्ते हो परजय संचया जी ॥४॥ हुं० ॥ धर्मक्षमादिक सैन्य, परिणति प्रभुता हो तुमबल आकराजी। तत्व सकल प्राग्भाव, सादि अनंती रे रीते प्रभु धर्यो जी ॥५॥हु०॥ द्रव्य भाव अरि लेश, सकल

निरारी रे साहिब अवतर्यो जी। सहज स्वभाव विलास, भोगी उपयोगी रे ज्ञान गुणे भर्यो जी ॥६॥ हु० ॥ आचारिज उवझाय, साधक मुनिवर हो देसविरति धरु जी, आतम सिद्ध अनंत, कारण रूपे रे योग क्षेमकरु जी ॥ ७ ॥ हुं० ॥ सम्यगूदृष्टि जीव, आणारागी हो सहु जिनराजना जी। आतम साधन काज, सेवे पदकज हो श्री महाराजनाजी ॥ ८ ॥ हु० ॥ देवचंद्र जिनचन्द्र, भगते राची हो भवि आतम रुचि जी अव्यय अभय शुद्ध, संपत्ति प्रगटे हो सत्तागत शुचि जी ॥ ६ ॥ हुं० ॥

॥ १६—श्री देवजसा जिन स्तवन ॥

देवजसा दरिसण करो, विघटे मोह विभाव लाल रे। प्रगटे शुद्ध स्वभावता, आनन्द लहरी दाव लाल रे॥१॥ दे० ॥ स्वामी वसो पुष्करवरे, जबू भरते दास लाल रे। क्षेत्र विभेद घणो पड्यो, किम पहुचे उल्लास लाल रे॥२॥ दे० ॥ होवत जो तनु पांखड़ी, आवत नाथ हजूर लाल रे। जो होवी चित आंखड़ी, देखत नित्य प्रभु नूर लाल रे ॥३॥ दे० ॥ शासनभक्त जे सुरवरा, विनवु शीस नमाय लाल रे॥ कृपा करो मुझ ऊपरे, तो जिन-वदन थाय लाल रे ॥४॥ दे० ॥ पूर्व पूर विराधना, शी कीधी इणे जीव लाल रे। अविरति मोह टले नहीं, दीठे आगम दीव लाल रे ॥५॥ दे० ॥ आतम शुद्ध स्वभावने, बोधन शोधन काज लाल रे॥ रत्नत्रयी प्राप्ति तणो, हेतु कहो महाराज लाल रे ॥ ६ ॥ दे० ॥ तुज सरिखो साहिब मिल्यो, भांजे भवभ्रम टेव लाल रे॥ पुष्टालंबन प्रभु लही, कोण करे परसेव लाल रे

॥७॥ दे० ॥ दीनदयाल कृपालुओ, नाथ भविक आधार लाल रे।
देवचन्द्र जिन सेवना, परमामृत सुखकार लाल रे ॥ ८ ॥ दे० ॥

॥ २०—श्री अजितवीर्य जिन स्तवन ॥

अजितवीर्य जिन विचरतारे मनमोहना रे लाल। पुष्कर अर्धविदेहरे, भविबोहना रे लाल। जगम सुरतरु सारिखोरे ॥ म० ॥ सेवे धन्य धन्य तेह रे ॥ भवि० ॥ १ ॥ जिनगुण अमृत पानथी रे ॥ म० ॥ अमृतक्रिया सुपसायरे ॥ भ० ॥ अमृतक्रिया अनुष्ठाथीरे ॥ म० ॥ आतम अमृत थाय रे ॥ भ० ॥२॥ प्रीति भक्ति अनुष्ठानथीरे ॥म० ॥ वचन असगो सेव रे ॥ भ० ॥ कर्ता तन्मयता लहेरे ॥ म० ॥ प्रभुभक्ति नित्यमेव रे ॥ भ० ॥ ३ ॥ परमेश्वर अवलबने रे ॥ म० ॥ ध्याता ध्येय अभेद रे ॥ भ० ॥ ध्येय समापि हुये रे ॥म०॥ साध्यसिद्धि अविच्छेद रे ॥ भ० ॥४॥ निज गुण राग परागथी रे ॥ म० ॥ वासित मुझ परिणाम रे ॥ भ० ॥ तजशे दुष्ट विभावतारे ॥ म० ॥ सरशे आतम काम रे ॥ भ० ॥ ५ ॥ जिन भक्तिरत चित्तने रे ॥ म० ॥ वेधक रस गुण प्रेम रे ॥ भ० ॥ सेवक जिन पद पामशे रे ॥ म० ॥ रसवेधित अय जेम रे ॥ भ० ६ ॥ नाथ भक्तिरस भावथी रे ॥ म० ॥ तृण जाणु परदेव रे ॥ भ० ॥ चिन्तामणि सुरतरु थकी रे ॥ म० ॥ अधिकी अरिहत सेवरे ॥ भ० ॥७॥ गुण स्मृति थकी रे ॥ म० ॥ फरस्यो आतमराम रे। भ० ॥ नियम कचनता लहे रे ॥ म० ॥ लोह ज्यु पारस पाम रे ॥ भ० ॥ ८ ॥ निर्मल तत्त्वरुचि थई रे ॥ म० ॥ करजो जिनपति भक्ति रे ॥ भ० ॥ देवचन्द्र पद पामशो रे ॥ म० ॥ परम महोदय युक्ति रे ॥ भ० ॥९॥

अध्यात्मिक पदावली

श्री आनन्दघन कृत पद (१) राग कल्याण

या पुद्गल का क्या विश्वासा, है सुपने का वासा ॥या०॥
चमतकार बीजली दे जैसा, पानी बीच पतासा।
या देही का गर्व न करना, शमशान होगा वासा ॥ या० ॥ १ ॥
झूठे तन धन झूठे योवन, झूठे हैं घर वासा।
आनन्दघन कहे सब ही झूठे, साँचा शिवपुर वासा। या० २ ॥

श्री आनन्दघन कृत पद (२) राग आशावरी

अवधू क्या सोवे तन मठ मे, जाग विलोकन घट मे ॥अवधू॥
तन मठ की परतीत न कीजे, ढही पड़े एक पल मे।
हलचल मेटि खबर ले घट की, चिह्ने रमता जलमें ॥अवधू। १ ॥
मठ मे पच भूत का वासा सासा धूत खबीसा।
छिन छिन तोही छलनकु चाहे, समझे न बौरा सीसा ॥ अ० २॥
शिर पर पच वसे परमेश्वर, घट मे सूक्षम बारी।
आप अभ्यास लखे कोइ विरला, निरखे ध्रू की तारी ॥अ० ३॥
आशा मारी आसन घर-घट मे, अजपा जाप जपावे।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरजन पावे ॥ अ० ॥ ४ ॥

श्री आनन्दघन कृत पद (३) राग गोडी

निशानी कहा बताऊँरे, तेरो अगम अगोचर रूप ॥ निशानी ॥
रूपी कहुं तो कछु नहीं रे, बंध कैसे अरूप।
रूपारूपी जो कहु प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप ॥ निशानी ॥१॥

शुद्ध सनातन जो वस्तु रे, बंध न मोक्ष विचार।
न घटे संसारी दशा प्यारे, पुण्य पाप अवतार॥ निशानी ॥२॥
सिद्ध सनातन जो कहु रे, उपजे विनसे कौन।
उपजे विनसे जो कहु प्यारे, नित्य अबाधित गौन॥निशानी ॥३॥
सर्वांगी सब नयधनी रे, माने सब प्रमाण।
नयवादी पल्लो ग्रही प्यारे, करे लड़ाई ठाण॥ निशानी ॥ ४ ॥
अनुभव गोचर वस्तु है रे, जाणवो एह इलाज।
कहन सुनन को कछु नहीं प्यारे, आनन्दघन महाराज॥नि०॥५॥

श्री आनन्दघन कृत पद (४) राग आशावरी

आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे॥ आशा०॥
भटके द्वार-द्वार लोकन के कूकर आशा धारी,
आतम अनुभव रस के रसीया, उतरे न कबहु खुमारी॥आशा०॥
आशा दासी के जे जाये, ते जन जग के दासा,
आशा दासी करे जे नायक, लायक अनुभव प्यासा॥आशा०॥
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि परजाली,
तन भाठी अवटाइ पीये कस जागे अनुभव लाली॥ आशा०॥
अगम प्याला पीयो मतवाला, चिह्नी अध्यातम वासा।
आनन्दघन चेतन व्हे खेले, देखे लोक तमाशा॥ आशा०॥

श्री चिदानन्द कृत पद (१) राग भैरवी

विरथा जनम गमायो। मूरख विरथा०॥
रचक सुख रस वश होय चेतन, अपनो मूल नसायो।
पांच मिथ्यात धार तु अजहुं, सांच भेद नवि पायो। मू०॥ १॥

कनक कामिनी अरु एहथी, नेह निरंतर लायो।
ताहू थी तु फिरत सारानो, कनक बीज मानो ग्रायो ॥ सूरख ॥
जनम जरा मरणादिक दुःख, काल अनंत गमायो।
अरहट घटिका निम कहो याको, अन्त अजहुँ नवि आयो ।मू०।२।
लख चौरासी पहेर्या चोळा, नव नव रूप बनायो।
बिन समकित सुधारस चाख्या, गिनती कोउ न गिनाया ।मू०।३।
एते पर नवि मानत मूरख, ए अचरज चित्त आयो।
चिदानन्द ते धन्य जगत् मं, जिणे प्रभुसुँ मन लाया ॥ मूरख ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (२) राग आशावरी

ज्ञान कला घट भासी ।जाकू ज्ञान०।
तन धन नेह नहीं रह्यो ताकू, छिनमें भयो उदासी ॥जाकू १॥
हुं अविनाशी, भाव जगत् के निश्चे सकल विनाशी।
एवी धार धारणा गुरुगम, अनुभव मारग पासी ॥जाकू॥ २॥
में मेरा, ये माह जनित भ्रम, एसी बुद्धि प्रकाशी।
ते नि सग पग माह शीस दे निश्चे शिवपुर जासी ।जाकू॥३॥
सुमता भइ सुखी इम सुनके, कुमता भई उदासी।
चिदानन्द आनन्द लह्यो इम, तोड करम की पासी ॥जाकू॥ ४॥

श्री चिदानन्द कृत पद (३) राग जंगलो काफी

जग में नहीं तेरा कोई, नर देखहु निह्चे जोई। जग०।
सुत मात तात अरु नारी, सहु स्वारथ के हितकारी। बिन स्वारथ शत्रु सोई। जग०॥ १॥ फिरत महा मदमाता,

विपयन संग मूरख राता । निज संगकी सुध बुध खोई । जग० ॥ २॥ घट ज्ञान कला नव जाकू, पर निज माने सुन ताकू । आखर पछताया होई । ॥ जग० ॥ ३ ॥ नवि अनुपम नरभव हारो, निज शुद्ध स्वरूप निहारो । अन्तर ममता मल धोई । जग० ॥ ४ ॥ प्रभु चिदानन्द की वाणी, धार तु निश्चे जग प्राणी । जिम सफल होत भव दोई । जग० ॥ ५ ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (४) राग जंगलो काफी

झूठी झूठी जगत की माया, जिन जाणी भेद तिन पाया । झूठी० । तन धन जोबन सुख जेता, सहु जाणहु अथिर सुख तेता । नर जिम वाव्लकी छाया । झूठी ॥१॥ जिम अनित्य भाव चित्त आया, लख गलित धूप की काया । बूझे करकडु राया । झूठी० ॥ २ ॥ इम चिदानन्द मन मांही, कछु करीये ममता नांहीं सद्गुरु ए भेद लखाया । झूठी० ॥ ३ ॥

श्री चिदानन्द कृत पद (५) राग सोरठ

क्या तेरा क्या मेरा प्यारे सहु पडाइ रहेगा । पच्छी आय मिलत दहुं दिशथी, तरुवर रैन वसेरा । सहु आपने आपने मारगलें, होत भोरकी वेरा । प्यारे० ॥ १ ॥ इन्द्रजाल गधव नगर सम डेढ़ दिनाका घेरा । सुपन पदारथ नयन खुलया जिम, जरत न यहु विध हेरया । प्यारे० ॥ २ ॥ रविसुत करत शीश पर तेरे, निशि दिन छाना फेरा । चेत सके तो चेत चिदानन्द, समझ शब्द ए मेरा । प्यारे ॥ ३ ॥

श्री चिदानन्द पद (६) राग टोडी

कथनी कथ सहु कोइ, रहनी अति दुर्लभ होइ । कथनी० ।
शुक राम को नाम वखाने, नवि परमारथ तस जाने ।
या विध वेद भणी सुणावे, पण अक्ल कला नवि पावे ।कथ०।।१।।
पट्त्रीश प्रकारे रसोइ, मुख गणतां तृप्ति न होइ ।
शिशु नाम नहि तस लेवे, रस स्वादत सुख अति लेवे । कथ०।।२।।
बन्दीजन कड़खा गावे, सुनी शूरा शीश कटावे ।
जब रुंडमुंड हता भासे, सहु आगल चारण नासे । कथनी० ।। ३।।
कहनी तो जगत मजूरी, रहनी है बन्दी हजूरी ।
कहनी साकर सम मीठी, रहनी अति लागे अनीठी ।कथनी०।४।।
जब रहनी का घर पावे, कथनी तब गिनती आवे,
अब चिदानन्द इम जोई, रहणी की सेन रहे सोई । कथ० ।।५।।

श्री चिदानन्द कृत पद (७) राग विहाग या टोडी

लघुता मेरे मन मानी, लहि गुरुगम ज्ञान निशानी ॥ लघुता ॥
मद अष्ट जिनोने धारे ते दुर्गति गये विचारे ।
देखो जगत मे प्राणी, दुःख लहत अधिक अभिमानी । ल० ॥१॥
गुरुराइ मनमें वेद उप श्रवण नासिका छेदे ।
अग माहे लघु कहावे ते कारण चरण पूजावे । लघुता ॥ २ ॥
शिशु राज धाम में जावे, सखी हिलमिल गोद खिलावे ।
होय वडा जाने नवि पावे, जावे तो शीश कटावे । लघुता ॥ ३ ॥

अन्तर मद भाव वहावे, तब त्रिभुवन नाथ कहावे।
इम चिदानन्द ए गावे, रहणी विरला कोउ पावे। लघुता ॥ ४॥

वैराग्य पद

आप स्वभाव मांहि अवधू, सदा मगन मे रहना,
जगत् जीव है कर्माधीना, अचरज कछु ना लीना ॥ अवधू० ॥
तु नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा मेरा।
तेरा है सो तेरी पासे, अवर सभी अनेरा। अवधू० ।॥ १॥
वपु विनाशी तु अविनाशी, अब है इनका विलासी,
वपु संग जब दूर निकाशी, तब तुम शिव का वासी॥ अवधू० २॥
रागने रीशा दोय खवीशा, ये तुमको दुःख दीशा,
जब तुम इनको नाश करीशा, तब तुम जग का ईशा। अव० ॥३॥
पर की आशा सदा निराशा, ये है जग जन पासा,
ते काटन कु करो अभ्यासा, लहो सदा सुख वासा। अवधू० ॥४॥
कबही काजी कबही पाजी, कबहीक हुआ अपभ्राजी।
कबही जग में कीरति गाजी, सब पुद्गल की बाजी। अवधू॥ ५॥
शुद्ध उपयोग ने समता धारी, ज्ञान ध्यान मनोहारी।
कर्म कलंक कु दूर निवारी, जीव वरे शिव नारी। अवधू० ॥ ६॥

श्री सहजानन्द कृत पदावली, पद दूसरा (नाराच छंद)

नाम सहजानन्द, मेरा नाम सहजानन्द। अगम देश, अलख नगर वासी मैं निर्द्वन्द।मे० १। सद्गुरुगम तात मेरे, स्वानुभूति मात। स्याद्वाद कुल है मेरा, सद् विवेक भ्रात ॥ मे० ॥२॥
सम्यग् दर्शन देव मेरे, गुरु है सम्यग् ज्ञान। आत्म स्थिरता

धर्म मेरा, साधन स्वरूप ध्यान ॥ मे० ॥३॥ समिति ही है प्रवृत्ति मेरी, गुप्ति ही आराम। शुद्ध चेतना प्रिया सह, रमत हु निष्काम ॥ मे० ॥ ४ ॥ परिचय यही अल्प मेरा, तन का तन से पूछ, तन परिचय जड ही है सब, तन क्यों मरोड मूछ मे० ॥५॥

विचार नु विचार पद चौथा (नाराच छंद)

विचार रे। विचार तु वि—चार नो विचार था। विचारिये वि—चार नित्य, सार तत्व पामवा ॥ लगो जुदा विचार चार शब्द पूर्ति सुख सदा। अह तजी विनय सभी सुसन्त शरण ले सदा ॥१॥ विशुद्ध सन्त चरण शरण, हृदय नयन दे मुदा। विवेक थी स्वआत्म देह, अनुभवो जुदा जुदा ॥ टले अज्ञान भ्रान्ति ज्ञेय निष्ठता स्व अनुभवे। असार क्षणिक पच विषय थी, विरक्ति उद्भवे ॥२॥ स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव, निज योग क्षेमता असग-मौन-स्वरूप, गुप्त विचर छेद भवलता ॥ सुदृष्टि ज्ञान थी, स्वरूप निष्ट था महारथी। विज्ञानघन विमुक्तानन्द, सहज ले विचार थी ॥ ३ ॥

पाच इन्द्रियोंके विषय, पद पाँचवाँ (भैरवी)

मारग मा लूटे पांच जणी। मारग०। देवाढी त्रण लोक मिनेमा, पहली लूटे बनी ठणी। आम भूलवे दृष्टि फसावे, रूपे सुख नहीं एक कणी। मारग० ॥ १ ॥ ग्राम मुर्च्छना-ताल-लयथी सप्त स्वरे अवर-गुँजणी। अगम रेडिये गान अलापी, लूट बीजी गायकनी। मारग० ॥२॥ दिव्य-पुष्प रज दिव्य सुगन्धी,

हीना अन्तर फूलेल तणी। महक फैलावी लूट चलावे, लुटारी तीजी सुघणी। मारग० ॥३॥ सहस्त्र दले कर्णिका थी रस बरसावे एक धार छनो। अमृत धारा क्ही छलचावे, लुटारी चौथी भूतनी। मारग० ॥४॥ दिव्य स्पर्श थी फसवे पांचमी, दिव्य विषय जड नाग फणी। सहजानन्द घन उपशम श्रेणि, पटकावे वृत्तियो ठगणी ॥ मारग० ॥५॥

सद्गुरु सग पद सातमा

साधक! कर सद्गुरु सत् सग। द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव थी जेओ अमल असग। साधक० ॥१॥ ज्ञायक आत्म स्वभाव जेनी स्थिरता चित्त तरग ॥सा० २॥ द्रव्य भाव नो कर्म उदय मां, केवल साक्षी प्रसग। साधक० ॥ ३ ॥ कर्म, कर्म-फल त्यागी धरे एक ज्ञान चेतना रग। साधक० ॥ ४ ॥ आप आपमां आप थी विलसे सहजानन्द अभग। साधक० ॥ ५ ॥

उपदेश पद नवमा (चाल दिलमादिवडोथाय)

आ पच विषय विक्षेप, फेरी चेप वमी थाओ चगा, उल्लसे सहजानन्द गगा ॥ १ ॥ जो विषय पूर्ति आनन्द दाता, तो केम थाको ते भोगवता? ज्यारे आवो शरणे विषय निवृत्ति प्रसगा। उल्लसे० ॥ २ ॥ विषयेच्छा पूर्ति छे पराधीन पण तास निवृत्तिछे स्वाधीन। रहो स्पश रस-गध-रूप स्वेज असगा ॥ उल्लसे० ॥ ३॥ विषयेच्छा-पूर्ति प्रमाद वहा, आरम्भ परिग्रह पाप महा। लहो निवृतिए निज आत्म प्रतीति अभगा। उल्लसे० ॥ ४॥

विषयेच्छा छे टोल्ट चारगति, निवृति आपे स्व स्वरूप स्थिति। करी विषयातीत थइ प्रतिक्षण सत्सगा। उल्लसे० ॥ ५ ॥ विषयाधीन खोयो आत्म प्रभु, निवृत्तिये प्रगटे ज्ञान विभु। तजो व्यर्थ चिन्तन वक्वाद, आचरण दगा। उल्लसे० । ६ ॥

आत्म स्वरूप पद दसवाँ (चाल दिलमा दिवडोथाय)

एथाय न कदी बीमार त्रिलोकीसार, जड तन न्यारो प्रियतम आनन्दघन म्हारो॥ एचिद् धातुमय परम शान्त, छे एक स्वभावि न आदि अन्त, अढग एकाग्र असंख्य प्रदेशाधारो। प्रियतम० ॥ १॥ पुरुषाकारो चिन्मय देही कफ वात पित्त वर्जित गेही। रस स्पर्श गंध रूपना ले न मझारो। प्रियतम०॥ २ ॥ अजरामर असयोगी, अइनो नहीं करता नहीं भोगी। नहीं योगी अयोगी शुद्ध उपयोग सितारो। प्रियतम०॥ ३॥ एणे बन्ध प्रथा न्हे नासी, थयो कर्म कर्म-फलनो नासी। चैतन्य लक्ष्मी वहे भव्य। भजो मुक्त प्यारो। प्रियतम० ॥ ४॥

दिव्य सदेश पद बाइमरा-श्री सहजानन्द कृत

उपयोग लक्षणे सनातन स्फुरित एवो आत्म स्वरूप निज ध्यान मां जमाओरे॥ १॥ औदारिक, वक्रिय, आहारक तेजस अने कार्मण काया पच थी भिन्न सदा ध्यावोरे॥ २॥ साता ने असातानु वेदन छे अवध लगी, तेना कर्ता शुभाशुभ ध्यान ने भगावोरे॥ ३॥ स्वरूप मर्यादा स्थित आत्मा मां जे चल भाव, तेना नाश माटे ज्ञान निष्ठाने जगावोरे॥ ४॥